डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

तथा

रेवरेण्ड आर० पी० स्लेटर को

सादर सआभार

आरम्भिक वक्तव्य

अज्ञेय और नरेश ही नहीं, प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार भाषासे संघर्ष और असन्तोषका अनुभव गहरे स्तरोंपर बराबर करता है। यह संघर्ष और असन्तोष वस्तुतः उसका अपने-आपसे है, क्योंकि भाषा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका अनिवार्य और अविभाज्य अंग है — मनुष्यको शेष समस्त प्राणिसमूहसे पृथक् करनेवाला आधारभूत उपकरण — और व्यक्तिकी संसारके प्रति समस्त प्रतिक्रियाओंका कुल योग है। अस्पष्ट संवेदनोंके रूपमें प्रतिभासित अनुभवको हम वास्तविक अर्थमें 'अपना' भाषाके माध्यमसे ही बना पाते हैं, अर्थात् भाषाके रूपमें साक्षात्कृत होनेपर संवेदन हमारे विशिष्ट अनुभव-संसारका अंग बन पाता है, भले ही भाषाका रूप वहाँ अनुच्चरित रहे। कभी-कभी हम अपनी मन स्थितियोंको जानकर भी नहीं जान पाते, फिर किसी रचनामें भाषाकी मध्यस्थतामें पढ़-सुनकर उसे अपने व्यक्तित्वमें व्यवस्थित और समाहित करते हैं। इस दृष्टिसे भाषाका अनुशासन किसी सीमा तक मानवीय व्यक्तित्वके केन्द्रीय तत्त्वोंकी अनुरूपताका द्योतक है। प्रस्तुत अध्ययनका मुख्य ध्येय रचनाकारके इस आन्तरिक संघर्ष की सूक्ष्म धरातलपर परीक्षा करना है। आधुनिक युगमें कलाओंकी प्रवृत्ति विशेषीकरण और अमूर्तनकी ओर है, जिससे उनके मौलिक रूप अधिकाधिक विशुद्ध होनेकी प्रक्रियामें हैं। भाषा अमूर्तनके इस क्रममें प्रथम और अनिवार्य चरण है। फलतः इतिहासके नवीनतम विकासकी दिशाएँ प्रमुख रूपमें उसकी भाषा-प्रयोग-विधिमें प्रतिबिम्बित होती हैं। साथ ही भाषाके माध्यमसे किसी रचनाकारकी प्रामाणिकताकी भी परीक्षा अपेक्षया तटस्थ और विश्वसनीय ढंगसे की जा सकती है। यों अलग-अलग कवीय भिन्न

क्रम

'लैंग्वेज ! दैट इज द राइटर्स स्ट्रगल एक्सप्ट
अ स्ट्रगल टु यूज अ मीडियम ऐज प्रेसाइसली
ऐज पॉसिब्ल बट नोइंग फुल्ली इट्स बेसिक
इम्प्रेसिशन्स ।"

— लॉरेन्स डरेल

•

शब्द मधुर हैं क्योंकि उच्चारण माँगते हैं ।

— अज्ञेय

आरम्भिक वक्तव्य

अज्ञेय और इलियट ही नहीं प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार भाषामें संशय और असन्तोषका अनुभव गहरे स्तरोंपर बराबर करता है। यह संशय और असन्तोष वस्तुतः उसका अपने-आपसे है क्योंकि भाषा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका अनिवार्य और अविभाज्य अंग है — मनुष्यको शेष समस्त प्राणिजगत्से पृथक करनेवाला आधारभूत उपकरण — और व्यक्तिकी संसारके प्रति समस्त प्रतिक्रियाओंका कुल योग है। अस्पष्ट संवेदनोंके रूपमें प्रतिभासित अनुभवको हम वास्तविक अर्थमें 'अपना' भाषाके माध्यमसे ही बना पाते हैं अर्थात् भाषाके रूपमें साक्षात्कृत होनेपर संवेदन हमारे विशिष्ट अनुभव-जगत्का अंग बन पाता है, भले ही भाषाका रूप वहाँ अनुच्चरित रहे। कभी-कभी हम अपनी मन स्थितियोंको जानकर भी नहीं जान पाते फिर किसी रचनामें भाषाकी मध्यस्थतासे पढ़-सुनकर उन्हें अपने व्यक्तित्वमें व्यवस्थित और समाहित करते हैं। इस दृष्टिसे भाषाका अनुशासन किसी सीमा तक मानवीय व्यक्तित्वके रचनात्मक तत्त्वोंकी अनुभवात्मकताका द्योतक है। प्रस्तुत अध्ययनका मूल ध्येय रचनाकारके इस आन्तरिक संशयकी सूक्ष्म धरातलोंपर परीक्षा करना है। आधुनिक युगमें कलाओंकी प्रवृत्ति विशेषीकरण और अमूर्तनकी ओर है, जिससे उनके मौलिक रूप अधिकाधिक विशुद्ध होनेकी प्रक्रियामें हैं। भाषा अमूर्तनके इस क्रममें प्रथम और अनिवार्य चरण है। फलतः कृतिकारके सर्जनात्मक विकासकी दिशाएँ प्रमुख रूपसे उसकी भाषा-प्रयोग-विधिमें प्रतिबिम्बित होती हैं। साथ ही भाषाके माध्यमसे किसी रचनाकारकी प्रामाणिकताकी भी परीक्षा अपेक्षया तटस्थ और विश्वसनीय ढंगसे की जा सकती है। यों अलग-अलग कवियोंकी

आधारपर भी इन निबन्धोंकी मूल समस्या और जिज्ञासाका क्षेत्र एक है — संवेदनात्मक स्तरपर व्यापक मानवीय सृजनशीलता और भाषाका आन्तरिक सम्बन्ध । अवश्य ही इस अन्तर्सम्बन्धका विवेचन प्रमुखतः साहित्य और कलाओंके सन्दर्भमें किया गया है । क्योंकि सृजनशीलताका श्रेष्ठतम और जटिलतम भी रूप यहीं देखनेको मिलता है ।

भाषाविज्ञान और साहित्य-चिन्तनकी नयी-पुरानी पद्धतियोंसे एक साथ ही परिचित होनेके कारण प्रस्तुत विचार-दर्शनमें लेखक निरन्तर ही लाभप्रद स्थितिमें रहा है । इस प्रसंगमें अपनी मौलिक स्थापनाकी भाषा एक सीमा तक संवेदनाको नियमित और अनुशासित करती है कई वर्ष पूर्व सन् ५९ को मद्रास लेखक कॉन्फ्रेन्सके लिए लिखित 'भाषा और संवेदना' शीर्षक टिप्पणी ('कल्पना' जुलाई ६ अंग्रेजी रूप 'क्वेस्ट अप्रैल-जून ६) में जो वर्तमान कृतिका एक प्रधान अंश होनेके साथ-साथ पूरी रचनाके लिए भी दीपक बन गयी है, व्यक्त की थी । वहींसे इस दिशामें चिन्तनका क्रम बराबर होता रहा और आज इस स्थितिमें हूँ कि इस महत्त्वपूर्ण सन्दर्भमें अपने कुछ विचार व्यवस्थित ढंगसे सबके सम्मुख प्रस्तुत कर सकूँ । उन्हीं दिनों अपनी अगली योजनाके लिए 'हिन्दीकी मध्यकालीन काव्य-भाषा' शीर्षक प्रस्तावित विषयपर गुरुवर डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मासे परामर्श किया था । सम्भव है आगे कभी उस संकल्पको भी पूरा कर सकूँ । यों इस प्रसंगमें कुछ आरम्भिक संकेत प्रस्तुत किये हैं कि किस प्रकार हिन्दीकी काव्य-भाषाके आधार बदलते रहे हैं — कभी खड़ीबोली कभी ब्रज कभी अवधी और अब फिर खड़ीबोली । इस दृष्टिसे प्रायः सभी कालोंमें हिन्दी प्रदेशके व्यापक क्षेत्रमें अलग-अलग जन-बोलियोंके रहनेपर भी काव्य-भाषाका अधिकतर एक ही परिनिष्ठित रूप स्वीकार किया है । यहाँ भिखारीदासका साक्ष्य बहुत स्पष्ट है, 'ब्रजभाषा हेत ब्रज-बास ही न अनुमानौ ।' काव्य-भाषाके इस व्यापक रूपका अध्ययन जितना जटिल है साहित्यके सम्यक् इतिहास और समीक्षाके लिए उतना ही

आवश्यक थी।

हिन्दी साहित्य-चिन्तनकी मात्रा और वैज्ञानिकतासे आश्वस्त रहनेपर भी यह स्वीकार करना होगा कि हमारे चिन्तनने अभीतक कोई ठीक-ठीक दिशा-निर्देश नहीं दिया है न सैद्धान्तिक चिन्तनके क्षेत्रमें और न व्यावहारिक समीक्षाके क्षेत्रमें। वर्तमान युगमें सम्भवतः साहित्य-चिन्तनके दायित्वको पर्याप्त गम्भीरताके साथ नहीं लिया गया। और यही कारण है जिससे आचार्य रामचन्द्र शुक्लके बाद हिन्दी समीक्षा किसी दिशा या दिशाओंमें अग्रसर नहीं हो सकी। ऐसा क्यों हुआ इसके भी कारणोंकी खोज की जा सकती है पर उनकी चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं। इतना स्पष्ट है कि हिन्दी समीक्षा शुक्लोत्तर युगमें कोई उल्लेख्य योग्य प्रगति नहीं कर सकी। इसका एक उजागर साक्ष्य यह है कि आचार्य शुक्लका 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' अपनी अनेक त्रुटियोंके बावजूद आज तक हिन्दीका एकमात्र श्रेष्ठ और मानक इतिहास बना हुआ है वैसी ठोस सम्पूर्ण और संतत समीक्षा-दृष्टि फिर हिन्दी-जगत्को देखनेको नहीं मिली। कुछ चिन्तनशील रचनाकारोंकी तो यह धारणा है, या किसी हद तक ठीक भी है, कि समसामयिक हिन्दी साहित्य विशेषतः कवितामें जो कोई गति नहीं रह गयी है और न उस गतिके लिए कोई उत्साह या चिन्ता ही उसका प्रमुख कारण हिन्दी साहित्य-चिन्तनकी दिशा-हीनता ही है।

उदाहरणके लिए रससम्बन्धी समसामयिक चिन्तनको लिया जा सकता है। लेखकों और विचारकोंका एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो हर प्रकार की नयी-पुरानी कविताको रसकी कुंजीसे समझने-समझानेका दावा पेश करता है। इन लोगोंके अनुसार रस-सिद्धान्त अपनी प्रकृतिमें बहुत खुला हुआ है, और इसलिए नवीन आवश्यकताओंके अनुरूप उससे काव्यकी सन्तोषजनक व्याख्या बराबर की जा सकती है। दूसरी ओर ऐसे रचनाकारोंकी भी कमी नहीं है, जो रससम्बन्धी मान्यताओंको सिद्धान्त अथवा-

सिक और रूढ़ हुआ मानते हैं। रस-सिद्धान्तके समर्थकोंकी शिकायत है कि अधिकांश लोग रससम्बन्धी समुचित अध्ययन किये बिना ही उसकी आलोचना करने लगते हैं और यह शिकायत काफी हद तक सही मानी जा सकती है। पर आधुनिक कालके ज्ञानकी विडम्बना भी कम दयनीय नहीं। साहित्य और ज्ञानका जितना विकास और प्रसार हुआ है उस सबसे अपने-आपको परिचित रखनेमें वह अपनेको अक्षम पाता है। नया पुराना लौकिक-आधुनिक देशी-विदेशी मानवशास्त्री-वैज्ञानिक—अध्ययन की अनेक ऐसी बहुमुखी दिशाएँ हैं जिनके भीषण दबावका समसामयिक लेखक अनुभव करता है। पूर्व यदि भौगोलिक दृष्टिसे उसके निकट है, तो पश्चिम कालकी दृष्टिसे निकट है। इन तनावोंसे वे ही मुक्त हैं और ऐसे बहुत-से लेखक हैं जो केवल अपना लिखा हुआ पढ़ते हैं और अपने अतिरिक्त किसी अन्यके 'समानधर्मा' बननेकी उदारता नहीं दिखाते। उनके सम्बन्धमें तो तुलसीदास बहुत कुछ कह गये हैं और इशारेसे ही मैं अब भला क्या कहूँगा!

अपने विचार-सूत्रको फिरसे पकड़ लें तो कहना चाहूँगा कि यदि थोड़ी देरके लिए यह भी मान लिया जाये कि रसकी प्रणालीसे प्रत्येक युगकी कविताकी सन्तोषजनक व्याख्या की जा सकती है तो भी हम वस्तुतः उस सिद्धान्तके घटाटोपसे इतने ऊब चुके हैं कि इस विषयमें नये सिरेसे सोचना चाहते हैं। कविता पढ़कर हम उसकी प्रकृति समझना चाहते हैं युगोंसे पूर्व निश्चित सिद्धान्तोंके आधारपर कविताका विश्लेषण नहीं करना चाहते। कोई कितना भी पुराना सिद्धान्त क्यों न हो समयके साथ उसके विवेचनके ढंग रूढ़ हो जाते हैं नये सन्दर्भोंसे सहजमें सम्पृक्त नहीं हो पाते। कविताकी पद्धतियाँ ही नहीं कालान्तरमें साहित्य-चिन्तनकी पद्धतियाँ भी अपनी सबलता खोने लगती हैं। रस किस प्रकार शब्दमय विमुक्त होकर चुक जाते हैं, इसकी चर्चा तो प्रस्तुत कृतिमें विस्तारसे की गयी है। आलम्बन उद्दीपन भाव-विभाव ऐसी ही पद्ध-

बसी है जो हमारे जीवित अनुभव-कोषका अंग नहीं रही। पुरानेके स्थानपर कोई भी नया सर्वथा नया नहीं होता। जैसे भौतिकशास्त्रके अनुसार किसी वास्तव नये पदार्थकी सृष्टि नहीं हो सकती और मनोविज्ञान के अनुसार कोई एकदम अभूतपूर्व कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि विचार-जगत्में किसी सर्वथा नये भावको जन्म नहीं दिया जा सकता। चीजें तो बहुत कुछ वही होती हैं उन्हें ठीक देखनेके लिए दृष्टिकी नवीनता अपेक्षित होती है। मात्र इसी भावसे मेरा सुझाव है कि रस-सिद्धान्तके पक्ष-विपक्षके विवेचनों और वक्तव्योंमें अब बात आगे नहीं बढ़ सकती। यदि हम अपने साहित्य-चिन्तनको गतिशील बनाना है तो विचारकी नयी भूमिकाका सन्धान आवश्यक होगा। प्रस्तुत कृति इसी दिशामें एक आरम्भिक प्रयास है।

शास्त्रके लिए भाषा प्रयोग-विधिकी दृष्टिसे आधुनिक हिन्दी कविताकी विवेचनाकी ओर कुछ विचार-सूत्र प्रस्तुत करना चाहूँगा जिनके माध्यमसे प्रत्येक युगके कृतित्वको बेहतर ढंगसे समझा जा सकता है। भारतेन्दुके माध्यमसे खड़ीबोलीकी प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्यमें एक बड़ी क्रान्ति थी। पर जैसा कि प्रसादकी काव्य-भाषाके सम्बन्धमें विचार करते हुए मैंने कहा है, भारतेन्दुने अधिकतर गद्यकी भाषामें परिवर्तन किया था। कविताकी भाषामें अन्तर बादमें किया गया। स्वयं प्रसादके कुछ पूर्व श्रीधर पाठक हरिऔध मैथिलीशरण गुप्त तथा रामनरेश त्रिपाठीको इस समस्यासे जूझना पड़ा था। कवितामें खड़ीबोलीके प्रारम्भिक प्रयोक्ता होनेके कारण इन कवियोंने बराबर भाषाका सीधा प्रयोग किया है। कविताकी भाषा-शैली गहरी अर्थ-ध्वनि इनकी रचनाओंमें देखनेको नहीं मिलती। द्विवेदी-युगकी बहु-चर्चित इतिवृत्तात्मकता इन कालके भाषा-प्रयोगोंके माध्यमसे अच्छी तरह समझी जा सकती है। खड़ीबोलीमें अभीतक प्रतीकों और भाव बिम्बोंके विधानके लिए उपयुक्त संस्कारका अभाव था। इस अविकसित काव्य-भाषाके अनुरूप ही इन कवियोंकी संवेदना है जो उनके सीमित

अनुभव-दोषोंका प्रधान कारण है। काव्य-भाषाके संघटनमें केन्द्रीय-तत्त्व भाव-बिम्ब (इमेज) ही है, इस तथ्यको एज़रा पाउण्डने बड़े बलपूर्वक कहा है 'पूरी जिन्दगीमें एक भाव बिम्बका निर्माण कर सकना कहीं अच्छा है मोटे-मोटे ग्रन्थोंके लिखनेकी तुलनामें।"

काव्य-भाषाके रूपमें खड़ीबोलीका वास्तविक परिष्कार छायावाद युगमें होता है। भाषामें लाक्षणिकता, वक्रता और अनेक प्रकारकी भंगिमाएँ विकसित की जाती हैं, जिनके सहारे वस्तुको सीधे-सादे कहनेके स्थानपर उसे सम्प्रेषित करनेकी चेष्टा की जाती है। शब्दोंके अर्थ-विस्तार-से ध्वनित और वैकल्पिक अर्थोंको ग्रहण किया जाता है जो काव्य-भाषा बननेकी पहली आवश्यक शर्त है जिससे फिर भाव-बिम्बोंका संघटन सम्भव होता है। यह सही है कि छायावादी काव्य-भाषा कुछ मिलाकर कृत्रिम अधिक हो गयी इस अर्थमें कि जीवित भाषासे उसका सम्पर्क कम रहा। पर शायद इस अलग कृत्रिमताके बिना शब्दोंकी अनेक आरम्भिक अर्थ-छायाएँ इस प्रारम्भिक स्थितिमें विकसित न हो पातीं। 'प्रियप्रवास' 'साकेत' 'पथिक'-जैसे प्रबन्ध एक ओर, और दूसरी ओर 'कामायनी' में मौलिक अन्तर इसी भाषा-प्रयोग-विधिका है। प्रसादकी काव्य-भाषा अपनी सुपरिचित न्यूनताओंके साथ भी इतनी विकसित है कि उसमें सत्य और यथार्थके विभिन्न अनाविष्कृत पक्ष अपनेको विवृत करते दिखाई देते हैं। 'प्रियप्रवास' 'साकेत' और 'पथिक' के कवि मानवीय व्यक्तित्व-के अनेक सूक्ष्म संघर्षों और अन्तःप्रक्रियाओंसे अपरिचित रहे, क्योंकि उनकी भाषा अविकसित थी। छायावादमें प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवीके माध्यमसे खड़ीबोली पहली बार सही अर्थमें काव्य-भाषाके रूपमें प्रतिष्ठित हुई। इसका प्रबल साक्ष्य निरालाकी प्रसिद्ध कृति 'रामकी शक्ति-पूजा' में देखा जा सकता है जहाँ खड़ीबोलीपर आधारित हिन्दीकी आधुनिक काव्य-भाषाकी नयी क्षमताका सशक्त उद्घाटन हुआ है।

उधर छायावादी काव्य भाषाकी इस समृद्धिके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती

एक सीमाके आगे उनके पास कहने लायक कुछ नहीं रह जाता। मानवीय व्यक्तित्वकी सूक्ष्म और जटिल प्रक्रियाओंको वे नहीं समझ पाते। प्रसाद की तुलनामें मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्दकी चर्चा करते हुए नन्ददुलारे वाजपेयीका निष्कर्ष[1] संगत और सही दृष्टिकोण है। काव्य भाषाकी दृष्टिसे इन रचनाकारोंकी परीक्षा करनेपर यह स्थिति और भी स्पष्ट तथा सकारण दिखाई देने लगती है।

उत्तर छायावादी रचना-वृत्तिमें-से ही प्रगतिवादका विकास शुरू हो जाता है। भाषाके सम्बन्धमें इन कवियोंकी दृष्टि बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र जैसी ही रहती है। शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि सभी प्रगतिवादी कवि सरल भाषा 'पसन्द' करते हैं। जनवादी आन्दोलनसे सम्बद्ध होनेके नाते भाषाकी यह सरलता उनके लिए और भी उपयोगी सिद्ध होती है। पर जहाँतक कविताका सम्बन्ध है उत्तर छायावादी युगकी तुलनामें भी प्रगतिवादी कृतित्व अत्यन्त सामान्य कोटिका दिखाई देता है। नारोंके बोझमें-से कविता एक-आध बार ही बहुत ढूँढनेसे ही मिलती है।

प्रयोगवादमें अज्ञेयके माध्यमसे काव्य-भाषाका पुनःसृजन आरम्भ होता है। भाषाके सम्बन्धमें अज्ञेय-जैसी सावधानी कम ही रचनाकारोंमें रहती है। अज्ञेयके प्रशंसक कुछ ऐसे पाठक और समीक्षक हैं जो उनके कथ्यसे सहमत न होते हुए भी उनकी कलाके बहुत बड़े उपासक हैं। सम्भवत

---

१ "मानव जीवन-व्यापारोंको हाथमें लेना, पेचीदा भाव-धाराओं और सामाजिक परिस्थितियोंके फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओंका विश्लेषण करना; व्यक्ति, देश और जातिके जीवनके ऊपर आशा आकांक्षाओंको प्रकाशित कर सकना; सारांश यह कि जीवनके गहरे और महत्त्वकी भाव-प्रतिक्रियाओं और विभिन्न जीवन-दशाओंमें ऊपर-ऊपर आनेवाले आवेगोंको चित्रित करना तथा उनकी संभावना और अपनी कलामें इन सबको सजीव करना गुप्त (मैथिलीशरण) और प्रेमचन्दकी शक्ति-सीमाके बाहर है।"
(नन्ददुलारे वाजपेयी जयशंकर प्रसादकी भूमिका)

वे नहीं मानते कि भाषाका अधिकसे अधिक सतर्क और सर्जनात्मक प्रयोग करके ही अज्ञेयने अपनी कलाको इतना निखारा है। भाषा जितनी सर्जनात्मक होगी कलाकृति उतनी ही विशुद्ध और प्रामाणिक होगी। और यदि कला वस्तुतः कला है तो उसके सामाजिक-असामाजिक होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टिसे अज्ञेयके साहित्यमें कलाका अत्यन्त परिष्कृत रूप देखनेको मिलता है। बीचके अन्तरालको छोड़कर वे काव्य-भाषाको छायावादसे उठाकर उसे आगे विकसित करते हैं। छायावादकी कृत्रिम और सामान्य जीवनसे दूर हटी हुई पदावलीके स्थानपर उन्होंने बोल-चाल-की भाषाके आधारपर अपनी काव्य-भाषाको निर्मित किया। पर वे जानते थे कि बोल-चालकी भाषा काव्य-भाषा नहीं बन सकती, बोल-चालकी भाषाके आधारपर काव्य-भाषा विकसित हो सकती है। यह अज्ञेय और बच्चनकी पद्धतियोंके बीच आधारभूत अन्तर है।

नयी कविताने अज्ञेय-द्वारा प्रारम्भ की हुई इस सामान्यीकरणकी प्रक्रिया-को आगे बढ़ाया है। अत्यन्त साधारण और परिचित शब्दोंमें नयी भंगिमाएँ और अर्थ-क्षमताएँ नयी कविताके कवियोंने विकसित की हैं। यह इस बातका द्योतक है कि शब्दका नहीं उसके प्रयोगका महत्त्व होता है और कालान्तरमें शब्द नहीं घिसता वरन् उसका विशिष्ट सन्दर्भ समाप्त हो जाता है। सामान्यतः मर चुके हुए अकाव्यात्मक माने जानेवाले शब्दोंको प्रतिभावान् कवि नये सन्दर्भमें रखकर उन्हें फिरसे जीवित कर देता है, शब्दावली कभी संस्कृत-वाङ्मयसे ली जाती है तो कभी साधारण बोल-चालके क्षेत्रोंसे। सामन्तवादी और साम्राज्यवादके युगसे आगे बढ़ी हुई दुनियामें काव्य भाषाका आधार यदि बोल-चालकी भाषा बनती है बनायी जाती है तो यह उचित ही है। इस दृष्टिसे लक्ष्मीकान्त वर्मा, रघुवीरसहाय विपिन अग्रवाल प्रभृति नये कवियोंने अपनी काव्य-भाषाका आधार अत्यन्त सामान्य शब्दावलीको बनाया है। कलाकी सफलताका एक आधार यह माना जाता है कि उसमें प्रयुक्त उपकरण सूक्ष्मसे सूक्ष्म हों। छन्द-विधान मुक्त

रूप और सामान्यतः काव्यात्मक समझे जानेवाले सभी स्थूल उपकरणोंको छोड़कर नया कवि सूक्ष्मतम और अस्पष्टतम साधनोंसे अपनी रचनाकी सृष्टि करना चाहता है। इस बातको कई बार कह चुका हूँ और इस प्रसंगमें बलपूर्वक फिर कहूँगा कि संगीतके प्रभावसे अपनेको मुक्त करके नयी कविता कविताका विशुद्धतम रूप है क्योंकि उसका सृजन केवल भाषा-प्रयोग-विधिपर निर्भर है, और सत्यको सम्प्रेषित करनेकी कुशलतम प्रणालीका सम्भव बना सका है।

प्रस्तुत कृतिमें काव्य-भाषाकी सैद्धान्तिक चर्चा और उसके मौलिक प्रतिमानोंके विश्लेषणके साथ-साथ उन प्रतिमानोंके आधारपर कुछ विशिष्ट कवियोंकी रचनाओं और नवीन प्रवृत्तियोंकी व्यावहारिक परीक्षा भी की गयी है। अन्तम राष्ट्रीय सृजनशीलताके सन्दर्भमें भाषाके आधारभूत स्थान की संक्षिप्त विवेचना हुई है। इस दृष्टिसे सैद्धान्तिक विवेचनको कई रूपोंमें व्यावहारिक स्तरपर पुष्ट करनेका यत्न किया गया है। 'कल्पना'में [illegible] टिप्पणीके प्रकाशनसे इस विषयके महत्त्वकी ओर कई लेखकों-विचारकोंका ध्यान आकृष्ट किया था। स्वयं 'कल्पना'के कई अंकोंमें तथा 'लहर' आदि कुछ अन्य पत्रोंमें इस टिप्पणीके आधारपर विस्तृत विचार-विनिमय हुआ था। इस जटिल परन्तु महत्त्वपूर्ण विषयको अब अधिक सम्पूर्ण ढंगसे और पहलेकी अपेक्षा अधिक आत्मविश्वासके साथ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

काव्य-भाषासम्बन्धी इन आरम्भिक मान्यताओंको रचनात्मक आलोचनाका एक चरण पूरा होता है। मध्यकालीन काव्य भाषाका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करनेकी एक योजना है साथ ही इस विषयमें सम्बद्ध सैद्धान्तिक अध्ययनमें कमी और पूर्णता लायी जा सकती है इस स्थितिके प्रति भी लेखक सचेत है।

— रामस्वरूप चतुर्वेदी

■

काव्य भाषाका स्वरूप

नयी कविताके युगमें आज जब कविताके सभी परम्परागत मौलिक उपादान, जैसे छन्द, अलंकरण, लय (शायद सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस भी) धीरे-धीरे विलुप्त हो चुके हैं, तो काव्य-भाषा ही वह अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार शेष रह जाता है जिसके सहारे कविताके आन्तरिक संघटनको समझनेकी चेष्टा की जा सकती है। हिन्दी समीक्षामें काव्य-भाषाके विश्लेषणके लिए बहुत उल्लेख-योग्य यत्न अभीतक नहीं हुए हैं। कुछ मध्यकालीन कवियोंकी काव्य-भाषाका विवेचन करते हुए शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं, पर उनकी प्रकृति व्याकरणिक अधिक है। ऐसे ग्रन्थोंकी दृष्टि न तो मनोवैज्ञानिक है और न ही सौन्दर्य-तत्त्वात्मक। काव्य-भाषाके विश्लेषणके लिए निश्चय ही दूसरी दृष्टि प्रमुख रूपसे अपेक्षित है। केवल व्याकरणिक दृष्टि कुछ कच्चा माल उपलब्ध करा सकती है, पर कविताकी रचना-प्रक्रिया उसके माध्यमसे नहीं समझी जा सकती।

यों तो प्रत्येक युगके काव्य-बोधको समझनेके लिए कविकी भाषा-प्रयोग-विधि हमारे लिए शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कुंजी सिद्ध हो सकती है। पर जैसा कहा गया, आधुनिक कविताका मर्म ग्रहण करनेके लिए काव्य-भाषाका उपादान ही एकमात्र विश्वसनीय माध्यम रह गया है, जिससे हम इस युग-विशेषके काव्य-सृजनकी क्षमताको समझ सकते हैं। इस प्रसंगमें अपनी दो टिप्पणियोंके द्वारा ('भाषा तथा संवेदना', कल्पना, जुलाई १९६, अँगरेजी रूपान्तर 'लैंग्वेज ऐण्ड सेन्सिबिलिटी' — थॉट, अप्रैल-जून १९६, और 'नयी कविता : सम्प्रेषणीयता तथा कथात्मक रूढ़ियाँ' — कल्पना) और अज्ञेयके सम्पादन एक समीक्षा-ग्रन्थ (भारतीनी

अप्रैल १९६१) में मैंने कुछ प्रारम्भिक संकेत प्रस्तुत किये थे। परन्तु अब यह आवश्यक है कि इस महत्त्वपूर्ण विषयपर कुछ और व्यवस्थित ढंगसे विचार किया जाये।

काव्य-भाषाके सम्बन्धमें अंग्रेजी और अमेरिकन समीक्षकोंने विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। ओवेन बारफील्डने अपनी पुस्तक 'पोयटिक डिक्शन'का आरम्भ करते हुए काव्य-भाषाकी जो परिभाषा देनी चाही है वह अपूर्ण तो है ही कुछ धुंधली-सी भी लगती है। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि ऐसे गम्भीर विभावनको परिभाषित करना स्वयं ही अपनी दृष्टिको सीमित कर देना है। बारफील्ड महोदयसे शिक्षा ग्रहण करके मैं काव्य-भाषाकी परिभाषा देनेकी चेष्टा न करके उसके स्वरूप-विश्लेषणका ही यत्न अधिक करूँगा। श्री बारफील्डकी परिभाषा इस प्रकार है

जब शब्दोंका चयन और नियोजन इस प्रकारसे किया जाये कि वह सौन्दर्यतत्त्वात्मक कल्पनाको जाग्रत करे या जाग्रत करनेकी चेष्टा करे तो इस चयनके परिणामको काव्यात्मक शब्द-समूह (पोयटिक डिक्शन) कहा जायेगा। स्पष्ट ही मूल भावकी ओर संकेत करते रहनेपर भी इस परिभाषामें सम्पूर्ण स्थितिको अतिसरलीकृत रूपमें प्रस्तुत करनेकी मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। शब्दोंका यह चयन किस प्रकार होता है, यही मुख्य विचारणीय समस्या है।

सामान्य मानव जीवनमें भाषा-प्रयोगके कई स्तर दिखाई देते हैं। बोल-चालकी भाषा और साहित्यिक भाषाके अन्तरको बराबर समझा गया है। इस सम्बन्धमें जिन विद्वानोंने विस्तारसे विचार किया है उनकी धारणा है कि भाषाके इन दोनों स्तरोंमें सदैव अन्तर बना रहता है, और भाषाके जिस रूपमें साहित्य-सृजन होता रहता है कुछ समय (कई सदियों) के उपरान्त अनवरत व्यवहारसे उसकी सम्भावनाएँ चुक जाती हैं और वह भाषा-रूप जड़ हो जाता है। पर बोल-चालकी भाषा निरन्तरके जीवित उपयोगसे विकसित होती है। इस दृष्टिसे किसी भी

युगकी साहित्यिक भाषाएँ वहाँके जन-समुदायकी भाषाके विकासकी विभिन्न मंजिलोंको सूचित करती हैं। संस्कृत पालि प्राकृत अपभ्रंशकी यो सरणि भारतीय आर्य भाषाओंके विकासशील रूपको प्रकट करती है अनिवार्यतः साहित्यिक भाषाओंका ही एक क्रम है। सच तो यह है कि वर्तमान कालसे पूर्वकी बोल-चालकी भाषाएँ क्या थीं यह जाननेके लिए हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है। तुलसीकी अवधी अपने समयकी बोल-चालकी अवधीसे काफी भिन्न थी यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है पर उस बोल-चालकी अवधीका क्या स्वरूप था इस सम्बन्धमें हमारी कोई जानकारी नहीं है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि परस्पर मिलती जुलती बोलियोंके समूहमें-से कोई भाषा किन्हीं विशिष्ट कारणोंसे — राजनैतिक सामाजिक अथवा अन्य — साहित्यिक सृजनशीलताका माध्यम बन जाती है। फिर कई शताब्दियोंके प्रयोगके उपरान्त जब उसकी प्राणशक्ति घटने लगती है और बदलते हुए नये युगके यथार्थको जब वह अपने भावका सम्पृक्त करनेमें असमर्थ पाती है तो उसके विकासकी मंजिल पूरी हो जाती है और उसका रचनात्मक स्वरूप समाप्त हो जाता है। प्रायः चार सौ वर्षों तक काव्य-माध्यम बन रहनेके बाद ब्रजभाषा वास्तवमें इस स्थितिमें आ जाती है कि पुनर्जागरणके इस युगमें सारे परिवर्तनोंसे उसकी कोई सम्पृक्ति नहीं हो पाती। यही कारण है जिससे भाषा जो हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण थाती है, वैसा ही कठिन अतीत बन जाती है।

साहित्यिक भाषा मूलतः बोल-चालकी ही वह भाषा है जो विभिन्न रचनाकारोंकी सृजन-प्रक्रियामें समाहित होकर अपने स्वरूपको परिवर्तित कर लेती है। अभिव्यक्तिपरक अनुभववादी जटिलताओंसे सम्पृक्त होकर उसकी अर्थ-क्षमतामें कई प्रकारके अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। स्वयं बोल-चालकी भाषाके अपने कई रूप और स्तर रहते हैं पर यहाँ उनकी चर्चा अपेक्षित नहीं। साहित्यिक भाषाके विकासके भी कई वर्गोंमें दो

एक नयी काव्य-संवेदनाका स्वरूप निर्धारित हुआ है। 'क्षितिज' 'रश्मि' 'उस पार' 'सजनि' 'परदा' 'तरंग' 'आँसू के कण' भिन्न यह दुनिया हिन्दी कवितामें किसी हद तक अज्ञेयके माध्यमसे अनुभूत हुई है। प्रगतिवाद इसकी पृष्ठभूमिमें है, और नयी कविताका यह मोड़ है। पर केवल नारोंसे हटकर यथार्थ अनुभावनके स्तरपर अज्ञेय इस अनुभूतिके प्रथम सशक्त नायक हैं।

अज्ञेयका गद्य (क्रिएटिव प्रोज) इससे बिलकुल विपरीत दिशामें है। उसकी प्रकृति निश्चित रूपसे 'मु (अपर क्लास) है। पर उसका आभिजात्य प्रधानतः बौद्धिक धरातलपर है। 'शेखर' और विशेषतः 'नदीके द्वीप' के गद्यका मादक परिष्कार और विस्मित स्वरूप पाठककी संवेदनाके एक दूसरे पक्षको प्रतिफलित करता है। एक-एक शब्द माना धरातलपर कसा हुआ हो। कविताकी भाषा-जैसा सम्पृक्त भाव लुनापन यहाँ नहीं मिलता। हर शब्द अर्थवत्ताकी अन्तिम सीमाको व्यक्त कर रहा है। यहाँ शब्द 'मधुर' हैं केवल इसलिए कि वे 'उच्चारण' माँगते हैं। अन्यथा उनके कमनीय करी कोई कमी नहीं। इसीलिए 'नदीके द्वीप' में बहुत-से स्थलों-पर एक भाषिक तनावका अनुभव होने लगता है, संवेदना अपने तीव्रतम रूपपर पहुँच जाती है।

गद्य और कविताकी भाषामें अन्तर बिम्ब-गठनके कारण होता है (और तानाम सामर नहीं तो विभाजक अन्तर है)। कविताकी भाषा पाठक या श्रोताको बिम्बों अथवा भावचित्रोंका आधार प्रदान करती है जिसपर भावात्मक ढाँचा वह (अर्थात् पाठक) बहुत कुछ स्वयं बनाता है। इसीलिए कविताकी भाषाका अनुल्लिखित होना दोष है। परन्तु गद्य प्रधानतः वर्णनकी भाषा है अतः उसमें कसाव अधिक अपेक्षित है। गद्यके शब्द अर्थके चरम रूपको अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टिसे अज्ञेयकी कविता और गद्यकी भाषा अपने भिन्न स्तरोंपर उत्कृष्टतम है। दोनों स्तरोंके बीचका अन्तर प्रमुखतः इसी कारणसे है। छायावादकी काव्य-भाषाको

रूप हो गये हैं — कविताकी भाषा और गद्यकी भाषा। काव्य-भाषा कहने पर हम दोनोंको ही उसके अन्तर्गत समाहित कर लेते हैं। कविताकी और गद्यकी भाषामें गद्यकी भाषा बोल-चालकी भाषाके अपेक्षया निकट होती है। इस प्रसंगमें सामान्य गद्य और कहानी उपन्यास नाटकके सृजनात्मक गद्यके अन्तरको भी हम स्मरण रखना है। पहले प्रकारका गद्य बोल-चालके निकट होगा दूसरे प्रकारका गद्य कविताके निकट होगा। इस प्रकार सामान्य दृष्टिसे भाषाके चार प्रयोग-स्तर हो जाते हैं बोल-चालकी भाषा गद्यकी भाषा सृजनात्मक गद्यकी भाषा और कविताकी भाषा।

काव्य-भाषाके इन दोनों रूपों अर्थात् गद्यकी भाषा और कविताकी भाषाके अन्तरको किसी रचनाकारके प्रसंगमें रखकर देखना अधिक उचित और उपयोगी होगा। वर्तमान युगके हिन्दी साहित्यमें अज्ञेयने इन दोनों माध्यमोंमें भाषाका बड़ा सतर्क और सफल प्रयोग किया है। भाषाके सम्बन्धमें उनकी-जैसी दृष्टि हिन्दीमें शायद ही अन्यत्र कहीं देखनेको मिले। यहाँ यह भी बात देखना संगत होगा कि अज्ञेयकी कविता और गद्यकी भाषामें इतना काफ़ी अन्तर है कि उसके सहारे हम अपने विवेचन-को आसानीसे स्पष्ट कर सकते हैं। अज्ञेयके भाषा-प्रयोगकी एक और विशेषता यह भी है कि अभीतक कहानी उपन्यास नाटकके लिए प्रयुक्त होनेवाले सृजनात्मक गद्यका प्रयोग उन्होंने अकाल्पनिक (नॉन इमैजिनेटिव) कृती उदाहरणार्थ यात्रा-विवरण ललित प्रभृतिमें सफलतापूर्वक किया है। इस दृष्टिसे सामान्यतः सृजनात्मक प्रकृतिके समझे जानेवाले 'उपयोगी कलाके नमूने यात्रा-विवरणको उन्होंने इस सृजनात्मक गद्यके प्रयोगके माध्यमसे ललित' कलाके रूपमें एक स्वतन्त्र रचनात्मक माध्यम-रूप बना दिया है।

'नदीके द्वीप' तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की भाषाकी परि-विस्तृत तुलना भी यहाँ तो सृजनात्मक गद्य और कविताकी भाषाका

विस्तार काफ़ी समझा जा सकता है। पर एक स्थिति तो एकदम स्पष्ट है। 'नदीके द्वीप' की भाषा अर्थका बड़ा सघन रूप प्रस्तुत करती है, जब कि 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की भाषा में एक उन्मुक्तता है। 'नदीके द्वीप' में शब्द अपने चरम अर्थको प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं अथवा सम्पूर्ण सम्भावनाओंको वे जैसे विवृत कर देते हों। पर कवितामात्रकी भाषा मात्र बिम्बोंको विकसित करनेके लिए शब्दोंकी सारी अर्थ-शक्तिका प्रयोग न लाकर उसके मात्र प्रतीकार्थको ग्रहण करती है (शब्द तो अपने-आपमें प्रतीक है पर उसके प्रतीकार्थको आंशिक अर्थको ही कवितामें स्वीकार किया जाता है।) यही कारण है जिससे अज्ञेयका गद्य भाषाकी तुलनामें उनकी कविताकी भाषाका रूप अधिक उन्मुक्त और खुला हुआ है।

इस स्थलपर 'अरी ओ करुणा प्रभामय पर आधारित अपने ही समीक्षा-लेख (कादम्बिनी अप्रैल १९६१) का कुछ अंश उद्धृत करने-की अनुमति चाहूँगा अज्ञेय जब कहते हैं कि अच्छी भाषा सिद्ध पाना अपने-आपमें एक उपलब्धि है तो वे जानते हैं कि अच्छी भाषा रचनाकी संभावनाका निश्चय ही ऊपर उठायेगी यद्यपि अच्छी भाषा महज अच्छे-अच्छे शब्दोंका प्रयोग नहीं है वरन् अच्छे शब्दोंका संगतप्रयोग है। इस दृष्टिसे उनकी कविताकी भाषा और गद्य-भाषाकी तुलना उनके व्यक्तित्व को समझनेमें सहायक हो सकती है। अज्ञेयकी कविता-भाषाका आधार बोल-चालकी भाषा है जिसमें अलंकृति अथवा गरिमा नहीं है, लोक-जीवन की सहजता तथा मुहावरे हैं जिसका उदाहरण द्रष्टव्य है

मेरा भाव-यन्त्र ?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान—
साध्य नहीं मुझ से किसी से चाहे सधा हो।"

कविके भाव-यन्त्रके लिए 'सूखी घास-फूसकी मचिया' का बिम्ब चौंकाता नहीं है न उसमें असाधारण रूपसे 'ग्रहशिशी और बाजन वाली

की पुकार है (हम तो अब भी बहुत कुछ प्रकृतिमें ही हैं, वापस कहाँ जायें ?) वरन् यह अज्ञेयकी काव्य-संवेदनाका एक पक्ष है जो विपुल है बेलौस है, अकृत्रिम है। 'एक पक्ष' जान-बूझकर कह रहा हूँ क्योंकि एक दूसरा पक्ष भी है जिसकी चर्चा आगे होगी। आजके युगमें किसी सचेतन संवेदनशील कलाकारके व्यक्तित्वमें भारतीय लोक-जीवन और पश्चिमका बौद्धिक आभिजात्य – इन दोनों तत्त्वोंका होना एक विचित्र सन्तुलनकी माँग करता है, जो अज्ञेयमें है। आधुनिक जन-मानसका यह एक महत्त्वपूर्ण संघर्ष है जिसे उन्होंने काफ़ी 'रियलाइज़' कर लिया है। 'व्यक्तित्वके अन्वेषण' में इस ओर भी उनकी दृष्टि रही है।

अज्ञेयकी कविताकी भाषामें यह 'लोक-भू' तत्त्व (निम्नवर्गीय जीवनसे लिया गया शब्द-समूह) बराबर प्रधान रहा है। प्रतीकों बिम्बों, अभिप्रायोंके चयन और सामान्य शब्द प्रयोगमें उनकी दृष्टि अधिकतर लोक-जीवनकी ओर उन्मुख दीख पड़ती है। 'ठठकठौरी' 'मेंमनी' 'हुनरमन्द' 'धुकधुका' 'मेमी दाक्खिनी' 'कुनमुनाती' 'गाना हमने एक सुना' 'सीटी' 'मनिहारी' 'चकमक' 'बस्ती' 'टोये' 'डाँगर मसाले हैं' 'पहलेज' जैसे प्रयोग 'हरी घास पर क्षण भर' प्रभृति में मिलते हैं पर इन्हें 'पोस्ट' अथवा 'नदीके द्वीप' में ढूँढ़ना कठिन होगा। 'औद्योगिक बस्ती' शीर्षक कविता का एक अंश है

"पैंठी फाड़ पर रखे जाते मान
सिकुड़ते और हैं भाता मल्लाप डाँगर-सी
ठिठकी चरती जाती हैं।"

यहाँ हरी मात्स्याकृति बिम्बको कवि 'रैंभाती अकालमें डाँगर' के माध्यमसे उभारना चाहता है। इससे पता चल जाता है कि औद्योगिक बस्ती तो है लेकिन किसी ठेठ गाँवकी दशामें स्थित है। ऐसे बहुत-से भाषा-प्रयोगों-द्वारा अज्ञेयने छायावादसे अपने-आपको अलग किया है। और पैना मैल मसोस किरा ये शब्द मात्र शब्द नहीं हैं, वरन् इनके माध्यमसे

एक नयी काव्य-संवेदनाका स्वरूप निर्धारित हुआ है। 'क्षितिज' 'रश्मि' 'उस पार' 'सखनि' 'परवा' 'दरद' 'आँसू के लोकसे भिन्न यह दुनिया हिन्दी कवितामें किसी हद तक अज्ञेयके माध्यमसे अनुभूत हुई है। प्रयोगवाद इसकी पृष्ठभूमिमें है और नयी कविताका यह स्रोत है। पर केवल नारोंसे हटकर यथार्थ अनुभावनके स्तरपर अज्ञेय इस अनुभूतिके प्रथम सफल साक्षी हैं।

अज्ञेयका गद्य (क्रिस्टिल प्रोज) इससे बिल्कुल विपरीत विधान है। उसकी प्रकृति निश्चित रूपसे 'मूर्त' (अपर समास) है। पर उसका आभिजात्य प्रधानतः बौद्धिक धरातलपर है। 'शेखर' और विशेषतः 'नदीके द्वीप' के गद्यका मानस परिष्कार और शिल्पित स्वरूप लेखककी संवेदनाके एक दूसरे पक्षको प्रतिफलित करता है। एक-एक शब्द मानो खरादपर चढ़ा हुआ हो। कविताकी भाषा-जैसा उन्मुक्त भाव खुलापन यहाँ नहीं मिलता। हर शब्द अर्थवत्ताकी अन्तिम सीमाको व्यक्त कर रहा है। यहाँ शब्द 'अधूरे' हैं केवल इसलिए कि वे 'उच्चारण' माँगते हैं। अन्यथा उनके स्थापनमें कहीं कोई कमी नहीं। इसीलिए 'नदीके द्वीप' में बहुत-से स्थलों-पर एक भाषिक तनावका अनुभव होने लगता है, संवेदना अपने तीव्रतम स्तरपर पहुँच जाती है।

गद्य और कविताकी भाषामें अन्तर बिम्ब-पठनके कारण होता है (और दोनोंमें शायद यही तो विभाजक अन्तर है)। कविताकी भाषा पाठक या श्रोताको बिम्बों अथवा भावचित्रोंका आधार प्रदान करती है जिसपर भावात्मक ढाँचा वह (अर्थात् पाठक) बहुत कुछ स्वयं बनाता है। इसीलिए कविताकी भाषाका बहुबिम्बित होना दोष है। परन्तु गद्य प्रधानतः वचनकी भाषा है अतः उसमें यथार्थ अधिक अपेक्षित है। गद्यके शब्द अर्थके चरम रूपको अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टिसे अज्ञेयकी कविता और गद्यकी भाषा अपने विभिन्न स्तरोंपर उपयुक्ततम है। दोनों स्तरोंके बीचका अन्तर प्रमुखतः इसी कारणसे है। छायावादकी काव्य-भाषाकी

उन्होंने तोड़ा कविताके लिए, पर उसके बहुत-से प्रेम अंगका प्रयोग उन्होंने गद्यमें किया (तुलनीय महादेवीके संस्मरण-चित्रों 'रामा' 'घीसा' आदिकी भाषा)।

कविताकी भाषामें लोक-भू तत्त्वके प्रयोगका एक कारण हम और देख सकते हैं। परम्परागत साहित्यिक संवेदनाको तोड़नेके लिए अज्ञेयने प्रथमतः कविताके माध्यमको तोड़ा। अब अज्ञेयकी स्थिति नयी कविताके माध्यमसे ही सम्भव हो सकी है। छायावादका प्रभाव-बोध भी कविता था। छायावादी काव्य भाषाका तोड़ा जाना इस दृष्टिसे सबसे अधिक आवश्यक था किसी भी नये भाव-संचरणके लिए। अज्ञेयने इस स्थितिको समझा और भाषाका नया संस्कार किया ऐसा संस्कार जो लोक-भाषाकी भाषाका था। पर इस मौलिक भाषाको जन-भाषा कह-समझकर ही वे सन्तुष्ट नहीं रहे, वरन् उसके माध्यमसे उन्होंने समूची काव्य-संवेदनाका परिष्कार किया। भावनाओंके बिम्बोंके लिए अछराये डाँगर का बिम्ब ऐसा सटीक है कि लगता है कि इससे भिन्न किसी बिम्बसे भावना स्पष्ट न हो सके। यहाँ लोक-जीवनसे लिये गये बिम्बोंपर आग्रह नहीं है आग्रह इस बातपर है कि जो बिम्ब सबसे अधिक उपयुक्त हो वही प्रस्तुत किया जाये। फिर वह बिम्ब चाहे 'मनियारी' का हो चाहे 'ऐल्मोरियम' का। क्योंकि कविकी संवेदनाका मूल स्रोत विदेशी होनेके आक्षेपके बावजूद भारतीय जन-जीवनमें है अतः 'मुँडा भाजने' और 'प्याजके कमलकली बाकम'को यह अनायास ही भावात्मक संगतिसे युक्त कर देता है। कुल मिलाकर अज्ञेयकी कविताकी भाषा सहज लोक-प्रचलित तथा परम्परागत बिम्ब-प्रविधिसे विहीन है। और भाषाके इस क्रान्तिकारी प्रयोगसे उन्होंने कविताको एक नयी क्षमता प्रदान की है।

अज्ञेयकी भाषा-प्रयोग-विधिका यह विश्लेषण काव्य-भाषासम्बन्धी हमारी मौलिक समस्यापर दूर तक प्रकाश डालता है। कविताकी भाषाका

केन्द्रीय तत्त्व भावचित्रों अथवा बिम्बोंका विधान है। कवि परम्परामें स्वीकृत भावचित्रोंका प्रयोग अधिक नहीं करता। आवश्यकता पड़नेपर सामान्यसे सामान्य शब्दके आधारपर अपना इच्छित भावचित्र स्वयं निर्मित करता है। काव्यमें सामान्य अर्थबोधसे ऊपर उठकर वह अपने अनुभवसे सम्पृक्त करके किसी भी शब्दको एक विशिष्ट अर्थ देता है। गिरिजाने जब कहा 'क्यों हो ये उजर भाव' तो यहाँ 'उजर' शब्द एक विशिष्ट अर्थ देता है जो कविके अपने विशिष्ट अनुभवकी प्रतीति है, जिसे वह पाठक तक सम्प्रेषित करना चाहता है। इस सम्प्रेषणमें क्रमशः पाठक सामाजिकका दायित्व बढ़ता गया है। 'सहृदयता' की माँग हमारे लक्षण-ग्रन्थकारोंने भी की थी पर अब इस सहृदयताकी क्रियाशीलता बढ़नशील है उसी अनुपातमें जिस अनुपातमें कविताकी अनुभूतिका देशी भेद माध्यम बनानेकी वृत्ति ह्रासशील है। प्रश्न विकासकी दिशाका है, उसकी अच्छाई-बुराईका उतना नहीं। काव्य और कलाओंका यह विकास स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर हो रहा है — हेगेलके विभाजनको ध्यानमें रखते हुए स्थापत्यसे संगीतकी ओर। पिछले युगकी कलाओंमें माध्यम — चाहे रंगोंका हो अथवा शब्दोंका ('शब्दोंका कहनेपर दोनोंका ही समाहार हो सकता है)— अपने स्वरूपमें एकदम 'चौकस' रखा जाता था या रखनेका यत्न किया जाता था। इस 'चौकसी' की चरम सीमा हिन्दीके रीतिकालीन काव्य और मुगलकालीन नृत्य-कलाओंमें मिलती है। इस युगकी आलोचना-पद्धतिको नलिनविलोचन शर्माके शब्दोंमें 'भारतीय मनीषाका ह्रासकालीन वर्गीकरण-भ्रम' कहा जा सकता है। पर गत युगके अनुभवोंने सिद्ध किया कि कलाकी भाषा चाहे जितनी सावधानी बरती जानेपर भी अभिव्यक्तिकी भाषा-जैसी सही और एकार्थक नहीं हो सकती। शायद उस 'चौकसी' की प्रतिक्रियामें और कुछ मानवीय अनुभूतियोंकी बढ़ती हुई जटिलता सज

१ "पोएट्री ! व्हॉट एवर द रासमसे [illegible] ... मीनिंग्स ऐज मैथमैटिक्स [illegible] ... [illegible]"

यता और वैविध्यके कारण आजका कलाकार अपने सम्प्रेषणका कैसा निश्चित एकवस्ट बनानेका यत्न नहीं करता। वह अनुभूति-विशेषकी एक पूरी श्रेणी (रेन्ज) सम्प्रेषित करता है, गणितके प्रारम्भकी तरह एक विशिष्ट और केवल उसी विशिष्ट स्थितिको घोषित नहीं करता। बरेलके शब्दोंमें 'बतानेकी प्रक्रियामें सत्य विलुप्त हो जाता है। उसे सम्प्रेषित (कन्वे) ही किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। सत्यकी इस सूक्ष्म प्रकृतिके कारण ही आज सभी कलाओं — स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और कविता में अमूर्तनकी वृत्ति बढ़ती दिखाई देती है। और अमूर्तनकी इस प्रवृत्तिके अनुपातमें सामाजिकका 'सक्रिय सहयोग' अपेक्षित हो जाता है। मात्र सहृदयता आज पूरी नहीं पड़ सकती। उस सहृदयताको सही दिशामें परिचालित और क्रियाशील करनेका भी दायित्व पाठकका हो गया है।

आजका रचनाकार किसी अनुभूतिके सुनिश्चित रूपके स्थानपर उस अनुभूतिकी जो एक व्यापक श्रेणी (रेन्ज) सम्प्रेषित करना चाहता है उसका मुख्य कारण यह है कि भाषा-विज्ञानके विकास और पिछली कई शताब्दियोंके अनुभवके आधारपर अब ध्वनियों और शब्दोंकी प्रकृति तथा सीमाको कुछ और स्पष्टतासे समझा जाने लगा है। वास्तविकता यह है कि शब्द अपने-आपमें एक निश्चित अर्थको व्यक्त न करके उस अर्थकी व्यापकताके अन्तर्गत आनेवाले अनेक मिलते-जुलते भावोंको व्यक्त करते हैं। एक 'विषाद' शब्दसे पारस्परिक मानवीय सम्बन्धकी एक दिशा-विशेषमें कई स्थितियोंका बोध हो सकता है — इन अर्थोंकी दिशा एक रहेगी पर अनुभूतिगत सघनताकी दृष्टिसे उनमें अन्तर होगा। इस स्थितिकी तुलना नये भाषा-विज्ञानके बहुचर्चित विभाजन 'ध्वनिग्राम (फोनीम) से की जा सकती है। ध्वनिग्राम उन बहुत-सी मिलती-जुलती ध्वनियोंके समूहको कहते हैं, जिनका उच्चारण-भेद यन्त्रोंकी सहायतासे पकड़ा जा सकता है, पर वास्तविक प्रयोगके समय उनके स्वरूपमें हम विवेक नहीं करते। द् हिन्दी भाषामें एक ध्वनिग्राम है जिसके अन्तर्गत द् वर्गकी मिलती-जुलती अनेक ध्वनियाँ

कि कविका सम्पूर्ण अस्तित्व इस प्रक्रियाके परिणामपर निर्भर होता है। जन-साधारणके भाषा प्रयोगसे जब शब्दोंका चरम अर्थ प्रकट होता रहता है तो कालान्तरमें उन शब्दोंकी पहुरी अर्थ-शक्तिका क्षय हो जाता है, उनका अर्थ बन्द हो जाता है। इस बद्ध अथवाको तोड़कर शब्दोंके ऊपर बजबरा प्रयोगसे जमी हुई परतोंको फोड़कर कवि उन्हें फिर अमृत करता है। यह प्रक्रिया तबतक चलती रहती है जबतक कि सारी भाषाका ढाँचा ही नये युगमें पुराना न पड़ जाये। इस प्रकार भाषाका संस्कार और उसकी समृद्धि रचनाकारोंके-द्वारा होती है। बोली जानेवाली भाषाका अमृतन और परिष्कार करके लेखक उसे सामान्य प्रयोगके लिए फिर समाजको वापस कर देते हैं। वर्तमान कालमें अँगरेजी भाषाकी अनुपम समृद्धि इस स्थितिका उत्तम उदाहरण है।

अब प्रश्न यह है कि लेखक अथवा कवि अमृतनकी इस प्रक्रियाको किस प्रकार घटित करता है। यदि हम इस प्रश्नका सही उत्तर दे सकें तो काव्य-भाषाकी आभ्यन्तरिक प्रक्रियाके रहस्यका उद्घाटन हो सकता है, जो एक प्रकारसे कविताकी सृजनशीलताकी मूल समस्या है। इतना तो स्पष्ट है कि कवि शब्दोंका सामान्य ढंगसे प्रयोग नहीं करना चाहता। अपनी अनुभूतिकी रासायनिक प्रक्रियामें वह उनकी प्रकृतिको परिवर्तित कर देता है। कविके लिए उपलब्ध शब्दावली सामान्यतः दो कोटियोंमें रखी जा सकती है एक तो वे शब्द जो दैनिक बोल-चालमें सामान्यतः प्रयुक्त होते हैं और जिनका कोई विशेष पूर्व-सन्दर्भ नहीं रहता जैसे – 'घर'। दूसरे प्रकारके वे शब्द या कहिए नाम जिनका कोई पूर्व-सन्दर्भ है। साहित्य-शास्त्रीय भाषामें इन दूसरे प्रकारके शब्दोंको 'सन्दर्भ' या एल्यूजन कहते हैं उदाहरणके लिए शब्द लिया जा सकता है 'चक्रव्यूह'। 'घर'-जैसे सामान्य और 'चक्रव्यूह'-जैसे विशिष्ट अर्थकी प्रतीति करानेवाले शब्दोंसे कविको अपनी अनुभूति पकड़नी है और सम्प्रेषित करनी है। पकड़नेवाली भाषा और सम्प्रेषित करनेवाली भाषामें कुछ अन्तर

जा जायेगा। अन्तरका कारण होगा स्वयं कविका अपना सर्जनात्मक व्यक्तित्व। रचनाकारके व्यक्तित्वमें पड़कर समाजकी भाषाका स्वरूप बराबर परिवर्तित होता चलता है।

'घर' और 'चक्रव्यूह' समाजकी भाषाके शब्द हैं। कवि इनका प्रयोग करनेके लिए इनके प्रतीकार्थको अन्वेषित करेगा। 'घर' उसके लिए इन दीवार और दरवाजे ही नहीं हैं वरन् माँकी ममता और पत्नीके समर्पण और उत्कण्ठाका भी प्रतीक है। यह सही है कि सामान्य समाज भी इस प्रतीक-भाषाका प्रयोग करता है पर अत्यन्त सीमित रूपमें। जब यह कहा जाये कि 'मेरे घरमें आग लगा गयी है' ('घरवाली' नहीं 'घरमें') तो यह भाषाका प्रतीकात्मक या लाक्षणिक प्रयोग ही कहा जायेगा। पर सामान्य शब्द या सन्दर्भसे प्रतीककी स्थिति तकका विकास काव्य-भाषाके सफलताकी पहली मंजिल है। इन शब्दोंकी वास्तविक परिणति तब होती है जब ये प्रतीक भावचित्रों अथवा बिम्बों (इमेज या इमेजरी 'इमेज का अर्थ है भावचित्र या बिम्ब' 'इमेजरी को बिम्बमाला कह सकते हैं) के रूपमें परिणत होते हैं। यह भावचित्रोंकी भाषा ही वस्तुतः काव्य-भाषा है। प्रतीक'के माध्यमसे सामाजिक अर्थको एक वैयक्तिक स्तर तक लानेकी चेष्टा होती है, पर अनुभूतिकी अद्वितीयता (युनीकनेस) इन प्रतीकोंके सामाजिक-वैयक्तिक रूपसे पूरी व्यक्त नहीं हो पाती। भावचित्रकी स्थितिमें कवि प्रतीकके अपेक्षया स्वीकृत परिवेशको तोड़कर अपना आवश्यक और इच्छित परिवेश निर्मित करता है। ऐसी स्थितिमें 'घर' शब्द कविकी किसी विशिष्ट मनःस्थिति — उदाहरणार्थ अपने बिछड़े सबकी सम्मिलित दुर्दमस्मृतिकी प्रतीतिका अनुभावन कराने लगता है। 'साधारणीकरण'के लिए यह 'विशिष्टीकरण' कितना जरूरी हो जाता है — सामान्य शब्दसे प्रतीक और प्रतीकसे भावचित्र! इस विशिष्टीकरणमें ही रचनाकारकी अनुभूतिकी अद्वितीयता गृहीत और व्यक्त हो पाती है। प्रतीकका मूल तत्त्व यही है कि उनके माध्यमसे किसी वस्तुके

सम्पूर्ण और चरम अर्थके स्थानपर उसके इच्छित आंशिक तत्त्वको ही ग्रहण किया जाये। मानचित्रकी स्थितिमें इस आंशिक अर्थको कवि एक वैयक्तिक संगति प्रदान करता है।

प्रस्तुत विवेचनके लिए दूसरा उदाहरण हमने चुना था 'चक्रव्यूह' जो सामान्य धर्म न होकर एक सन्दर्भ है। सन्दर्भकी परिणति भी प्रायः प्रतीक-स्थितिके माध्यमसे मानचित्रके रूपमें होती है। सन्दर्भ रूपमें 'चक्रव्यूह' के साथ महाभारत गर्भवती सुभद्रा अभिमन्यु, सात योद्धा – यह पूराका पूरा परिवेश हमारे सामने आ जाता है। कवि इस सन्दर्भको जब प्रतीकके रूपमें लाता है तो 'चक्रव्यूह' का अर्थ हो जाता है मानव मनकी गुत्थियाँ। और फिर जब इस प्रतीकको मानचित्रके रूपमें संक्रान्त किया जाता है तो चक्रव्यूहके साथ एक नया परिवेश जुड़ जाता है, जिसे कविने अपनी इच्छा और आवश्यकताके अनुसार निर्मित किया है – उदाहरणार्थ मृत्युके भयसे युद्ध करता हुआ आधुनिक व्यक्ति – मन। इस प्रकार सन्दर्भके साथ अनिवार्यतः जुड़े हुए परिवेशको प्रतीकस्थितिमें व्यस्त करके मानचित्रके रूपमें कवि स्वयं अपना परिवेश निर्मित कर लेता है। प्रतीक और मानचित्रमें कुछ-कुछ वैसा ही अन्तर है जैसा उपमा और रूपकके बीच होता है। उपमामें हम समग्र स्थितिके किसी एक अंश-विशेषकी तुलना देना चाहते हैं, रूपकमें उस समग्र स्थितिके बारेमें आरोपणकी चेष्टा होती है। मानचित्र रूपककी भाँति किसी पूरीकी पूरी स्थितिको अंकित करना चाहता है। पर दोनोंकी स्थितियोंमें एक मौलिक अन्तर है। रूपकका 'आरोप' ऊपरसे होता है जब कि मानचित्रका उदय कविकी गहन अनुभूतिके क्षणोंमें होता है। इसीलिए एक बाह्य अलंकरण है, पर दूसरा कविता का अनिवार्य तत्त्व है।

इस प्रसंगमें यह जिज्ञासा सहज हो सकती है कि ऐसी स्थितिमें कवि कर्मके द्वारा भाषा क्या बराबर समृद्ध होती चलती है? वारफील्ड महोदयने अपनी पुस्तकके मेटाफर शीर्षक अध्यायमें इस प्रश्नको उठाया है –

'हम लोग यह निष्पत्ति निकालनेके लिए उत्सुक हो सकते हैं कि जैसे-जैसे भाषा पुरानी होती जाती है काव्य-उपादानके रूपमें अनिवार्यतः वह समृद्धतर होती जाती है। पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं। शायद कभी-कभी इससे विरोधी स्थितिकी ही सम्भावना अधिक समझमें आती है, जब पुरानी भाषा नये कवियोंके लिए सहायताकी अपेक्षा अवरोध अधिक बन जाती है। इसका कारण क्या है? वस्तुतः प्रतीक जो काव्य-भाषाके सबसे तेजस्वी तत्त्व जान पड़ते हैं एक सीमाके बाद व्याघात करने लगते हैं। प्रतीकोंकी बड़ी संख्या यदि भावचित्रोंके रूपमें संक्रान्त नहीं हो पाती तो उनमें-से अधिकांश प्रतीक मात्र कथानक-रूढ़ि या अभिप्राय (मोटिफ) बनकर रह जाते हैं, जैसी इस समय हिन्दीकी नयी कविताकी स्थिति है जहाँ ढेरके ढेर मौन मुखौटे हिमाच्छन्न काली चोटियाँ और नारंगीके छिलके दूब-उतरा रहे हैं। इस प्रकारके व्यावहारिक प्रतीक किसी भी काव्य भाषा और अन्ततः साहित्यके लिए बड़े ह्रासशील तत्त्व साबित होते हैं क्योंकि उनका रूप वैसा ही जड़ और निश्चित हो जाता है जैसा कि सामान्य शब्दोंका होता है, जिन्हें कवि अमूर्त करनेकी प्रक्रियामें सबसे पहले कच्चे मालके रूपमें उठाता है। काव्य-भाषाके इन दोनों विकास-क्रमोंको रेखाचित्रात्मक रूपमें इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है — ये क्रम-पंक्तियाँ क्रमशः रैखानुसारी तथा वर्तुल विकासकी गतियाँ हैं

सामान्य अर्थ अथवा सन्दर्भ → प्रतीक → भावचित्र

सामान्य अर्थ अथवा सन्दर्भ

↗ ↘

कथानक-रूढ़ि ←———————— प्रतीक

स्पष्ट ही बहुत-से प्रतीक जो भावचित्र नहीं बन पाते कथानक-रूढ़ियोंके रूपमें बदले रहते हैं और भाववादी कवियोंको सहायता तो नहीं ही देते उनके लिए अवरोध और समस्याके रूपमें उपस्थित होते हैं। ऐसी कथानक-रूढ़ियोंको तोड़नेका श्रम उनके लिए बहुत कुछ अतिरिक्त सिद्ध होता है क्योंकि सामान्यतः तो उन्हें अपने शब्दों या सन्दर्भोंसे भावचित्र निर्मित

करता ही रह रहता है। पर जैसा संकेत किया गया मनमाना प्रयोगके फलस्वरूप अन्ततः भाषाका सारा स्वरूप जड़ और पुराना पड़ जाता है उसकी सम्भावनाएँ चुक जाती हैं। कई शताब्दियों तक काव्य भाषा बनी रहनेके बाद भारतेन्दुके समयमें ब्रजभाषाकी ऐसी ही स्थिति आ गयी थी। नवीन सम्भावनाओंसे युक्त खड़ी बोलीको भारतेन्दुने भी स्फूर्ति और चेतनाका आधार मानकर ग्रहण किया था जिससे हमारे साहित्यमें पुनर्जागरणका शुभ सम्भव हो सका। एक चुकी और रीती हुई बोलीके स्थानपर एक दूसरी बोली काव्य-भाषाके रूपमें प्रतिष्ठित होती है।

विवेचनको आगे बढ़ानेके पूर्व यहाँ काव्य तथा काव्य-भाषाके सन्दर्भमें प्रयुक्त होनेवाले कुछ नये-पुराने पारिभाषिक शब्दों और उनके अन्तरपर विचार कर लेना उचित होगा। प्रतीक तथा भावचित्र इस निबन्धमें चर्चाके मुख्य विषय रहे हैं। भारतीय काव्य-शास्त्रमें इन विभाजनोंका विवेचन नहीं हुआ। हमारे लक्षण-ग्रन्थोंमें शब्द-शक्तिके मूलाधारके रूपमें लक्षणा व्यंजनाको स्वीकार किया गया है। पर प्राचीन साहित्यशास्त्रके इन विभाजनों – लक्षणा तथा व्यंजनाका आधुनिक काव्य समीक्षाके विभाजनों – प्रतीक तथा भावचित्रके साथ एकदम नहीं स्थापित किया जा सकता। प्रतीक और लक्षणाकी स्थिति परस्पर निकट है पर दोनों एक नहीं हैं। हाँ लक्षणा और मेटाफ़ोरमें समानता देखी जा सकती है। चिट्ठीके लिए 'पत्र' शब्द (प्राचीनकालमें चिट्ठी भूर्जपत्र आदिपर लिखी जाती थी) लाक्षणिक या 'मेटाफ़ोरिकल' प्रयोग है। लक्षणा या मेटाफ़ोरमें भावको एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें प्रक्षिप्त किया जाता है, जैसे [illegible] किरणोंको उनके हाथ कहना (मैक्समूलरने मेटाफ़ोरके उदाहरणमें बताया है सूर्यकी किरणोंको सूर्यके हाथ या उँगलियाँ कहना) सुमित्रानन्दन पन्तने तो आरम्भ न किया हो है

"गङ्गा पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पाँव इन्दु के कर सुकुमार।

परन्तु प्रतीककी स्थिति उपमा और मेटाफ़ॅर दोनोंसे भिन्न है। प्रतीक किसी एक शब्दके द्वारा व्यापक भावको व्यक्त करता है या कहिए उस भाव-विशेषका समूतन है। प्रतीकके रूपमें 'बौना' का अर्थ हो जायगा किसी विकासका अवरुद्ध हो जाना—शारीरिक विकास रुक जाना होता है पर जातीय अथवा राष्ट्रीय संवेदनाका विकास रुक जाना 'बौना' का प्रतीकार्थ होगा।

जिस प्रकार प्रतीककी प्रकृति उपमा और मेटाफ़ॅरसे भिन्न है, उसी प्रकार व्यंजनाको भावचित्र अथवा बिम्ब (इमेज) की तुलनामें नहीं रखा जा सकता। (यह बात अलग है कि व्यंजना वर्गीकरण-प्रिय भारतीय काव्य-शास्त्रकी सबसे सूझी हुई व्यवस्था है।) व्यंजना प्रायः ऐसा अर्थ देती है जो सामान्यतः उन शब्दोंके संघातनमें प्रकट नहीं होता। विपिन जब कहते हैं

सखियाँ बात तुम्हारे करने की आवाज़ आती है
गिर न हमकिम गुम्मी का अपनी ओर पाता है।

तो उसका इच्छित भाव इन शब्दोंके सामंजस्य अलग ध्वनित होता है। पर भावचित्र या बिम्बका मूलाधार (इमेज बिम्ब या भावचित्र इमे जरी बिम्बमाला) कथित लिये हुए शब्द ही होते हैं और उन्हींके अर्थकी सहायतासे उसके आधारपर एक मंडित चित्र प्रस्तुत किया जाता है। विपिनकी एक दूसरी कविताका अंश है

"बहुत दिन पहले यहाँ माँ ने
एक आड़ा दरवाजे पर से
सोचा ध्यान बहुँ"

यहाँ पहली दो पंक्तियोंमें भावचित्र कथित दिये हुए शब्दोंसे उन्हींके बीचमें उभरता है। निरालाकी प्रसिद्ध कविता 'जुहीकी कली' सम्पूर्ण बिम्बमाला (इमजरी) में बनी रचनाका अच्छा उदाहरण है। क्योंकि यहाँ शब्दोंके अर्थसे एकदम भिन्न किसी अर्थको व्यक्त नहीं किया जा रहा

इस स्थितिका आरम्भ लॉरेन्स डरेलके प्रख्यात चतुष्क उपन्यास (जस्टीन 'बल्थज़ार' 'माउण्ट ऑलिव' तथा 'क्लिया') में स्पष्ट है। डरेलने भाषाको — और अँगरेजी-जैसी समृद्ध परम्परा तथा अनवरत व्यवहार और अनेकविध साहित्यिक प्रयोगोंवाली भाषाको — एक अद्भुत तरलता प्रदान की है। शब्द मानो उसके हाथमें गीली मिट्टीकी तरह हैं जैसा नया जब वह जैसा चाहता है, वैसा है। अँगरेजी भाषामें ऐसा क्रान्तिकारी मोड़ शायद इस रूपमें पहला है, इस अधिकांश समीक्षकोंने स्वीकार किया है। काव्य-भाषाका यह नव रूप जिसमें अर्थकी निश्चिततापर बल न देकर उसकी उन्मुक्ततापर अधिक बल दिया जा रहा है आजके साहित्यिक प्रवृत्तियोंकी केन्द्रीय स्थिति है। इस दृष्टिमें अर्थसे इनकार नहीं है, केवल इस उन्मुक्तताको सम्भव करनेके लिए सामान्य अर्थकी अपेक्षा भाव विशेष संघटनको अधिक महत्त्व दिया जाता है। एजरा पाउण्ड-जैसे कवियोंमें तो प्रायः इमेजरी के तत्त्वको भी स्वीकार किया गया है। भाषाभिव्यक्तिका यह प्रयोग ही सामान्य भाषा गद्य और कविताकी भाषाके बीचके अन्तरको स्पष्ट करता है। नयी कविताके सन्दर्भमें विशेषतः गद्य और कविताका भेदक लक्षण यह भाषा-प्रयोग ही हो सकता है। वस्तुतः तो साहित्यके समग्र विश्लेषण करनेके लिए व्याख्याके स्थानपर यह भाषात्मक पद्धति अब अधिक तात्त्विक और उपयोगी जान पड़ती है।

पिछले वर्षोंमें पश्चिमके कुछ दार्शनिकों और साहित्य-चिन्तकोंने एक नये अर्थके सिद्धान्तकी बात उठायी है। संगीतके आदर्शपर ऐसे विचारक यह नहीं मानते कि काव्य-भाषा किसी अभीष्ट अर्थकी प्रतीति कराती है। उनकी दृष्टिमें जिस प्रकार संगीत विशेषतः वाद्य-संगीत किसी प्रकारके सुनिश्चित अर्थका बोध नहीं कराता उसी प्रकार कविताके शब्द किसी निश्चित और अनिवार्य अर्थकी ओर संकेत नहीं करते। प्राचीन रचनाकारों तथा समीक्षकोंकी दृष्टिमें जो काव्य भाषामें प्रत्येक शब्दका एक निश्चित और सम्पूर्ण अर्थ है देनेमें विश्वास करते थे यह स्थिति

दूसरा छोर है। 'द रिट्रीट फ्रॉम द वर्ड' शीर्षक वार्तामाला (बी बी सी लिसनर के अंकोंमें प्रकाशित) में प्रमुखतः विट्गेन्स्टाइनके आधार-पर अमेरिकन समीक्षक जॉर्ज स्टीनर कहते हैं अपनी पिछली वार्तामें मैंने यह दिखानेकी चेष्टा की थी कि भाषा आज वह वस्तु नहीं है जिसमें सारा यथार्थ (रीयैलिटी) भर दिया गया है जैसा कि अठारहवीं शताब्दी तक माना जाता था वरन् अब उसकी संसक्तिका क्षेत्र सीमित है। वह क्रिया विचार और संवेदनाके सभी प्रकारोंपर लागू नहीं इसी और न उन्हें संघटित ही करती है। अनपयुक्त अनुभूतियोंके अनेक क्षेत्र अब शब्द-विहीन भाषासे सम्बद्ध माने जाते हैं जैसे गणित फ़ॉर्मूले तथा तार्किक प्रतीक पद्धति। कुछ क्षेत्र 'भाषा-विरोधी (एण्टी-लङ्ग्वेज) हो गये हैं उदाहरणार्थ अमूर्त-कला या अमूर्तात्मक संगीत (नॉन-ऑब्जेक्टिव आर्ट और ऐटोनल म्यूज़िक)। शब्दकी दुनिया संकुचित हो गयी है। शब्दोंकी इस पराजयका विस्तृत इतिहास देते हुए स्टीनर महाशय कहते हैं कि भाषाके पुनर्जागरणकी आशा अब किसी उपन्यासकारके माध्यमसे ही की जा सकती है। उनका अपना संकेत लॉरेन्स डरेलकी ओर है, जिसके बारेमें उनका मत है 'वे (लॉरेन्स डरेल) विशेष रूपसे भाषाके काल्पनिक यथार्थमें साहसतापूर्ण नया बिम्ब-विधान समाहित करनेका यत्न कर रहे हैं। संक्षेपमें वे भाषाको एक बार फिरसे वह सामर्थ्य देना चाहते हैं जिससे अनुभूत संसारके विभिन्न तथ्य साक्षात्कृत हो सकें। उनके प्रयत्नोंमें त्रुटियाँ अनिवार्यतः हैं और इतनी जल्दी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सफल हुए हैं। पर यह यत्न तो किया ही जाना चाहिए।

इस प्रकार विगत कवितामें शब्दोंको साधन न मानकर साध्य मान लेते हैं। निराशाके उदाहरणको इस प्रसंगमें दूसरी व्याख्याके साथ जोड़ा जा सकता है — 'शब्दों ही के परे भाव'। इस नयी समीक्षा-पद्धतिमें शब्दको 'परम-भाव' ही मान लिया गया है — पर विवशताके रूपमें नहीं वरन् दर्शनके रूपमें। यह शब्द अनुभवमें भाषाके इस प्रकारको आगार

वर्ती' (वाचक) कहा है। अपने एक लम्बे निबन्ध 'द लैंग्वेज ऑफ पोएट्री' ('क्वेस्ट' जुलाई-सितम्बर, १९५) में उन्होंने सारी स्थिति का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रसंगमें सार्त्रकी स्थितिका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है : 'शब्दके लिए कवितामें प्रयुक्त शब्दोंको भाषा कहकर अभिहित करना वैसा ही भ्रामक या निरर्थक है जैसा कि यह कहना कि 'फूलोंकी भाषा' है।' स्वयं सार्त्रका मत उद्धृत है : 'कवि शब्दोंको वस्तुके रूपमें मानता है, चिह्नके रूपमें नहीं।' यह वही बात हुई शब्दोंको माध्यम न मानकर साध्य मानना। इस सारी स्थितिको समेटते हुए उन्होंने कहा है : 'यदि हम अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं शब्दोंपर उनकी संगीतात्मकता और चित्रमयतापर, उनकी ध्वनि और अप्रस्तुत बिम्बगत गुणवत्तापर — जैसा कि आधुनिक कवि और 'नये' समीक्षक हमसे आशा करते हैं — तो कविताकी भाषा अपारदर्शी हो जाती है; हम उसीको देखते हैं उसके माध्यमसे कुछ और नहीं।'

काव्य-भाषाके विवेचनमें यह दूसरी अति है। भाषाको एक निश्चित और सम्पूर्ण अपनेमें देखना एक स्थिति थी। अब जैसे वह घूमकर सामनेकी स्थितिमें पहुँच गया हो जहाँ माध्यमके भावसे अपना आप ही हटा दिया गया है। इस प्रकारके विवेचनपर संगीतके अभिव्यक्तिसम्बन्धी निष्कर्षोंका अधिक प्रभाव जान पड़ता है। पर सभी कलाओंकी सम्प्रेषणकी विधि एक-जैसी नहीं मानी जा सकती। संगीतकी अपनी पद्धति रही है, जिसमें किसी अर्थ-विशेषकी प्रतीति करानेकी चेष्टा न होकर एक समग्र मन:स्थितिको सम्प्रेषित करनेका यत्न होता है। सितारकी कोई गत या बीथोवेनकी कोई धुन ('प्रोग्राम म्यूजिक'से अलग) किन्हीं कलाकारोंकी समूची अनुभूत्यात्मक उपलब्धिको साक्षात्‌ कराती है। पर कविताका माध्यम और उसकी सम्प्रेषण-विधि ठीक वैसी नहीं है। आधुनिक चित्रकलामें भी रंगोंको अर्थहीन मान लिया गया है। अमूर्त 'कम्पोज़ीशन' में रंग साधन न होकर साध्य बन गये हैं। वे अपनेसे इतर किसी यथार्थका

(जो बराबर होता रहता है जैसा पहले ही संकेत किया गया) एक निश्चित सीमा तक ही सम्भव है। अमूर्त किये हुए शब्द अर्थकी दृष्टिसे रूढ़ होते रहते हैं, और उन्हें फिरसे अमूर्त किया जाता है। पर अगर इतनी विस्मृति एकदम समाप्त हो जाये कर दी जाये यह स्थिति किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं लगती। यदि हम काफ़ी श्रम करके कविताके क्षेत्रमें शब्दोंको उनके अर्थसे बलात् अलग कर लें तो भी भाषाके सामान्य व्यवहार-क्षेत्रमें यह अलगाव कैसे और क्यों होगा? साधारण प्रयोगमें भाषाका अपारदर्शी रूप हमारे किस काम आयेगा? तो कवितामें अपारदर्शी भाषा और नित्यके व्यवहारमें पारदर्शी भाषा यह दोहरी स्थिति एक साथ ही कैसे सम्भव होगी? शब्दोंका इन दोनों स्तरोंपर सार्थक भावसे बराबर प्रयुक्त होते रहना उन्हें स्तरों और अर्थोंमें भिन्न कोटियोंमें रख देता है। इस दृष्टिसे संगीतके प्रभावमें विकसित काव्य-भाषाके लिए यह 'अपारदर्शी भाषा' का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं लगता। शब्दके निश्चित और समूचे अर्थ तथा शब्दोंकी अपारदर्शी स्थितिकी दो अतियोंके बीचमें वही स्थिति वांछनीय जान पड़ती है, जिसकी ओर मैंने संकेत किया है, जहाँ शब्दोंको अमूर्त मानकर भी उनका पुनः-पुनः अमूर्तन होता रहता है, सामान्य रूपसे प्रतीक और प्रतीकसे भावबिम्बके रूपमें संक्रमण होता है, और भावबिम्बकी स्थितिमें अर्थका एक रूढ़ और बँधा रूप न होकर पाठक-की संवेदनाको एक दिशामें गतिशील करनेका उपक्रम होता है। निश्चित अर्थ और किसी अभीष्ट अर्थके समवत् अभावकी दो आत्यन्तिक स्थितियोंके बीच यह मत शायद कुछ अधिक संगत जान पड़े। अपारदर्शी भाषाके प्रयोगका उपयोग किसी कृतिमें यत्र-तत्र शिल्पके रूपमें किया जा सकता है पर सामान्य काव्य-भाषामेंसे उसके अर्थको हटाया नहीं जा सकता क्योंकि तब तो उसकी स्थिति संगीत-जैसी हो जायेगी। भाषाका अपारदर्शी प्रयोग मालार्मेको तथा रैम्बोकी रचनाओंमें विशेष सफलताके साथ हुआ है, पर यहाँ जहाँ-तहाँ ही उसे शिल्पके रूपमें ग्रहण किया गया है।

विश्लेषणके इस अंशको एक 'पुनश्च' के साथ समाप्त करना चाहूँगा । नलिनविलोचन शर्माकी एक छोटी-सी कविता है, जो संगीत और काव्यकी सम्प्रेषण-विधियोंके अन्तरको बड़ी सफाईसे प्रस्तुत करती है । कविताका शीर्षक है — 'अली अकबर खाँके सरोद-वादन पर' :

'सरोद पर तुमने जो बजाया
मैं समझा नहीं । मैंने देखा
पीतल और लोहे से
तुमने मधु निचोड़ा
सारा कड़वापन दूर हो गया,
मधु निस्पन्द होकर बैठ गया ।

उक्त विश्लेषणके प्रकाशमें इस स्थापनाको फिरसे दोहराया जा सकता है कि सामान्य भाषा और काव्य-भाषाका अन्तर इस बातमें है कि सामान्य भाषा शब्दोंके साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होना उचित और वांछनीय समझती है, जब कि काव्य-भाषाके लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं । वह शब्दोंके रूपको बार-बार अमूर्त करती है । जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्दके साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक सम्बद्ध हो गया है कवि बलपूर्वक उसे अलग कर लेना चाहता है । अर्थकी स्थूलताको तोड़कर वह उसकी अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृतिको पुनःस्थापित करता है । सामान्य-भाषा तथा काव्य-भाषाके स्तरपर शब्दोंकी यह दोहरी प्रकृति भाषाकी अपनी विशेषता है । अर्थके अस्तित्वको यह दोनों ही स्थितियोंमें स्वीकार करती है — एकमें सुनिश्चित रूपमें दूसरीमें खुले और अनेकधा अनवरुद्ध रूपमें । सामान्य भाषामें अमूर्तन प्रक्रिया निहित है पर यह अमूर्तन आवर्तनशील हो जाता है काव्य-भाषाकी प्रक्रियामें ।

हिन्दीमें प्रयोगवादका विद्रोह एक बड़ी सीमा तक जड़ हुए शब्दों और प्रतीकोंके प्रति विद्रोह था । अज्ञेयने इसी मनःस्थिति में कहा था

बांध नहीं करता। वरन् ऐसे बोधको स्थितिसे कलाकार अपनेको बल-पूर्वक बचाता है। विज्ञानके शब्दोंमें रंग 'रूपाकार' (फ़ार्म) और वस्तु (कण्टेण्ट) दोनों ही है। इस दृष्टिसे संगीतके स्वरोंकी अमूर्तता चित्रकलाके रंगोंमें पूरी तरहसे स्थापित हो जाती है। पर क्या यह अमूर्त स्थिति शब्दोंकी भी मानी जा सकती है ?

वस्तुतः हमें एक ही पद्धतिसे इन सभी कलाओंको समझनेका आग्रह नहीं करना चाहिए। मेरी दृष्टिमें स्वरों और रंगोंके साथ-साथ शब्दोंकी भी वैसी ही अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) स्थिति नहीं मानी जा सकती। यद्यपि यह सही है कि अमूर्त ये तीनों ही उपादान हैं और ये तीनों ही क्यों प्रेम वस्तु-जगत्से भिन्न सभी उपादान अमूर्त हैं, और वस्तु-जगत्की भी हम कमका प्रतीति होती है, जो प्रतीति स्वयं अपने-आपमें किसी सीमा तक अमूर्त है। यदि यह सब सिद्धान्ततः मान भी लिया जाये तो भी इतना स्पष्ट होना चाहिए कि स्वरों रंगों और शब्दोंके अमूर्तत्वमें भेद है। स्वर और रंगसे सामाजिक व्यवहार किसी अर्थको जोड़ता नहीं और जोड़ता भी है तो बड़े स्थूल स्तरपर क्योंकि स्वर-भेद और रंग-भेदका सही-सही अनुभावन सम्भव नहीं। पर शब्द तो समूचे व्यवहारका मूल रूप है। भाषा एक प्रकारसे यथार्थ (रीयैलिटी) के प्रति हमारी सारी प्रतिक्रियाओंका योग है। इसीलिए शब्दोंकी सार्थकतामें जैसा ही वैविध्य है वैसा मानवीय अनुभूतियोंमें। स्वरों या रंगोंके बारेमें यह वक्तव्य अपने अत्यन्त सीमित रूपमें भी नहीं दिया जा सकता। स्वर और रंगोंकी स्थिति बहुत कुछ निरपेक्षिक है, शब्दोंकी नहीं। इसीलिए एक भाषासे दूसरी भाषामें अनुवाद-की बात आवश्यक है और सम्भव है। पर एक युग अथवा देशकी कला समसामयिक चित्र-पद्धतिमें अनुवादकी अपेक्षा नहीं रखती। कालिदास और शेक्सपीयरके हिन्दीमें अनुवाद हों यह वाञ्छनीय है और अनुवादककी सजग-प्रतिभाके द्वारा किये भी जाते हैं पर अजंता कलम या रेम्ब्राँका अनुवादन उनके मूल रूपमें सदैव सम्भव है, इसीलिए उनके रूपान्तरकी

आवश्यकता नहीं है। यही बात संगीतके बारेमें भी कही जा सकती है, *जहाँ बीथोवेन या रविशंकरको अनूदित करनेकी बात हमारे सामने नहीं* आती। शब्दोंकी तुलनामें स्वरों और रंगोंकी भाषा सार्वभौमिक होती है, क्योंकि शब्दोंकी भाँति स्वर और रंग किसी विशेष जीवन-पद्धतिसे अभिन्न नहीं हो जाते। उनका रूप निर्वैयक्तिक रहता है जब कि शब्द एक विशेष अर्थ-व्यवस्था (पटर्न ऑफ मीनिङ्) से सम्बद्ध रहते हैं। स्वर और रंगोंकी स्थिति बीचकी है, इनमें न तो काव्य-भाषा-जैसी वैयक्तिकता है और न दूसरी सीमापर स्थित गणित और विज्ञानकी भाषा-जैसी निरपेक्षता है।

इस प्रसंगमें एक तथ्य और स्मरणीय है। स्वर और रंग तो अपनी प्रकृतिसे ही अमूर्त हैं उनका हमारे अनुभव-क्षेत्रोंसे कोई अनिवार्य अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं यह उनकी सीमा और विवशता है। शब्द भी अनिवार्यतः ध्वनियोंके रूपमें अमूर्त है। पर मनुष्यने अपने विकासके दौरानमें उन्हें अनेक विविध वस्तुओं और अनुभवोंके साथ जोड़ा है। स्वरों और रंगोंका उपयोग सामान्य व्यावहारिक जीवन-क्रममें उनके निरर्थक यथार्थवादी रूपमें भी है पर शब्द यदि वे ध्वनिसे ऊपर उठकर सार्थक शब्द नहीं बन जायें तो हमारे लिए नितान्त अनुपयोगी हैं वे हमारे बुद्धि-परिवेशमें भी नहीं आते। स्वरों और रंगोंके लिए हमारी प्रतिक्रिया सहज होती है, तात्कालिक भी पर शब्दोंकी प्रतिक्रिया उन्हें समझनेके बाद होती है। इस दृष्टिसे *स्वरों और रंगों-जैसे जड़ उपादान शब्द हमारे सामान्य जीवनमें नहीं हो* सकते। उनकी अपनी मान्यताकी उपेक्षा सम्भव नहीं। शार्पकी शब्दावली लेकर स्वरों और रंगोंको तो 'वस्तुएँ' कहा जा सकता है, पर शब्दोंको नहीं क्योंकि वे सामूहिक मानव-अनुभूतियोंकी विद्युत्-शक्तिसे मानो 'चार्ज' किये हुए रहते हैं। क्योंकि इस 'चार्ज' को विलुप्त कर देना न तो इतनी जल्दी सम्भव है और न शायद आवश्यक ही। स्वरों और रंगोंकी मौलिक प्रकृति अमूर्त होनेसे 'अमूर्त संगीत' और 'अमूर्त चित्रकला' सम्भव है, पर काव्यके क्षेत्रमें शब्दोंका अमूर्तन

(जो बराबर होता रहता है, जैसा पहले ही संकेत किया गया) एक निश्चित सीमा तक ही सम्भव है। अमूर्त किये हुए शब्द अर्थकी दृष्टिसे मूर्त होते रहते हैं और उन्हें फिरसे अमूर्त किया जाता है। पर अर्थकी इतनी विस्तृति एकदम समाप्त हो जाये कर दी जाये यह स्थिति किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं लगती। यदि हम काफ़ी श्रम करके कविताके क्षेत्रमें शब्दोंको उनके अर्थसे बलात् अलग कर लें तो भी भाषाके सामान्य व्यवहार-क्षेत्रमें यह अलगाव कैसे और क्यों होगा? साधारण प्रयोगमें भाषाका अपारदर्शी रूप हमारे लिए किस काम आयेगा? तो कवितामें अपारदर्शी भाषा और नित्यके व्यवहारमें पारदर्शी भाषा यह दोहरी स्थिति एक साथ ही कैसे सम्भव होगी? शब्दोंका इन दोनों स्तरोंपर सार्थक भावसे बराबर प्रयुक्त होते रहना उन्हें स्तरों और अर्थोंसे भिन्न कोटिमें रख देता है। इस दृष्टिसे संगीतके प्रभावमें विकसित काव्य-भाषाके लिए यह 'अपारदर्शी भाषा' का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं लगता। शब्दके निश्चित और समूचे अर्थ तथा शब्दोंकी अपारदर्शी स्थितिकी दो अतियोंके बीचकी ही स्थिति वांछनीय जान पड़ती है, जिसकी ओर मैंने संकेत किया है, जहाँ शब्दोंको अमूर्त मानकर भी उनका पुन:-पुन: अमूर्तन होता रहता है, सामान्य शब्दसे प्रतीक और प्रतीकसे भावचित्रके रूपमें संक्रमण होता है, और भावचित्रकी स्थितिमें अर्थका एक रूढ़ और बँधा रूप न होकर पाठक-की संवेदनाको एक दिशामें गतिशील करनेका उपक्रम होता है। निश्चित अर्थ और किसी अभीष्ट अर्थके समग्र अभावकी दो आत्यन्तिक स्थितियोंके बीच यह मत शायद कुछ अधिक संगत जान पड़े। अपारदर्शी भाषाके अर्थोंका उपयोग किसी कृतिमें मनःतत्त्व विम्बके रूपमें किया जा सकता है पर सामान्य काव्य-भाषामेंसे उसके अर्थको हटाया नहीं जा सकता क्योंकि तब तो उसकी स्थिति संगीत-जैसी हो जायेगी। भाषाका अपारदर्शी प्रयोग बादमेंसके तथा रीव डिकिंसी रचनाओंमें विशेष सफलताके साथ हुआ है, पर वहीं जहाँ-तहाँ कि उसे बिम्बके रूपमें ग्रहण किया गया है।

विश्लेषणके इस अंशको एक 'पुनश्च' के साथ समाप्त करना चाहूँगा। नलिनविलोचन शर्माकी एक छोटी-सी कविता है, जो संगीत और काव्यकी सम्प्रेषण-विधियोंके अन्तरको बड़ी सफ़ाईसे प्रस्तुत करती है। कविताका शीर्षक है – 'भरी बरसातकी सरोद-वादन पर':

"सरोद पर तुमने जो बजाया
मैं समझा नहीं। मैंने देखा
पीतल ज्वार कोई सा
तुमने मधु बिखेरा
सारा कड़ुवापन दूर हो गया,
मधु विमुक्त होकर बैठ गया।

उक्त विश्लेषणके प्रकाशमें हम इस स्थापनाको फिरसे दोहराया जा सकता है कि सामान्य भाषा और काव्य-भाषाका अन्तर इस बातमें है कि सामान्य भाषा शब्दोंके साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होना उचित और वांछनीय समझती है जब कि काव्य-भाषाके लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं। वह शब्दोंके अर्थको बार-बार अमूर्त करती है। जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्दके साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक सम्बद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग कर देना चाहता है। अर्थकी स्थूलताको तोड़कर वह उसकी अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृतिको पुनःस्थापित करता है। सामान्य-भाषा तथा काव्य-भाषाके स्तरपर शब्दोंकी यह दोहरी प्रकृति भाषाकी अपनी विशेषता है। अर्थके अस्तित्वको वह दोनों ही स्थितियोंमें स्वीकार करती है – एकमें सुनिश्चित रूपमें दूसरीमें खुले और अपेक्षया अनबद्ध रूपमें। सामान्य भाषामें अमूर्तन प्रकृत्या निहित है पर यह अमूर्तन आवश्यक हो जाता है काव्य-भाषाकी प्रक्रियामें।

हिन्दीमें प्रयोगवादका विद्रोह एक बड़ी सीमा तक जड़ हुए शब्दों और प्रतीकोंके प्रति विद्रोह था। अज्ञेयने इसी मनःस्थिति में कहा था

भी अर्थका विनिमय करनेमें समर्थ नहीं रहे। मूल्यों और आचरणकी इस समस्याको भाषाके स्तरपर कम लोगोंने समझा है। पर सामान्य व्यवहारमें घिसे इन शब्दोंको नयी अर्थवत्तासे सम्पृक्त करना काव्य भाषाका काम है, क्योंकि सूचनात्मक शक्तिका स्रोत मुख्यतः यही है। हिन्दीमें मांग कहनेसे 'प्रेयसी' का दूसरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता पर काव्यात्मक प्रयोगसे उसे अथवा उस-जैसे अन्य अर्थोंको व्युत्पन्न किया जा सकता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अँगरेजीमें संज्ञा शब्दोंके घटने पर्याप्त नहीं हैं जितनी कि क्रिया-रूपोंकी विभिन्न छायाएँ हैं।

कथा-वस्तुसे भी ऊपर उठकर काव्य-भाषा ही कविता बन जाती है, इसका एक रोचक उदाहरण रामचरितमानसमें मिलता है। सीता-हरण प्रसंगके पूर्व राम सीताको अग्निमें रख देते हैं। इस प्रकार जो सीता रावण-द्वारा हरी जाती है वे 'नकली' सीता हैं। पर यह जानते हुए भी कि जो सीता हरी गयी है वे असली नहीं 'नकली' हैं पाठककी करुणा उसी प्रकार उमड़ती है जैसी कि वास्तविक सीताके दुःखमें उमड़ती। यहाँ तुलसी अपना अभीष्ट भाव-बोध काव्य-भाषाकी सामर्थ्यसे ही सम्प्रेषित करते हैं और यह सम्प्रेषण कथा-वस्तुकी बाधाको पार करके अक्षुण्ण बना रहता है। यदि यह सारा आख्यान काव्य-भाषासे विहीन करके साधारण रूपमें कहा जाये तो पाठक या श्रोता सीता-हरणके अवसरपर दुःखी होनेके बजाय प्रसन्न होगा कि देखो रावण कितना मूर्ख बन रहा है! पर तुलसीकी समर्थ काव्य-भाषा कथा-वस्तुके इतने महत्त्वपूर्ण अवरोधसे ऊपर उठकर अभीष्ट भाव-बोधको सम्प्रेषित कर देती है।

काव्य-भाषाके स्वरूपको समझनेमें लोक-साहित्यकी प्रकृतिके विश्लेषण से भी सहायता मिल सकती है। यदि हम यह विचार करें कि लोक-साहित्य और शिष्टसाहित्यका विभाजक आधार क्या है, तो पता चलेगा कि अभिव्यक्तिके इन दोनों प्रकारोंका प्रमुख अन्तर भाषा-प्रयोगकी विभिन्नता है। लोक-साहित्यमें सामान्यतः भाषाका सूचनात्मक (डिनोटेटिव)

प्रयोग नहीं होता लोककवि (या गायक) भावबिम्बोंका संघटन नहीं कर पाता। लोकगीतमें तो अधिकतर संगीतके सक्रिय सहयोगसे दैनिक बोल-चालकी भाषा रहती है। काव्य और संगीतके इस मिश्रित रूपमें प्रधानता वस्तुतः संगीतकी रहती है शब्दोंका योग गौण होता है। यही कारण है लोकगीतोंकी सफलता गायकके कण्ठमें होती है, मुद्रित रूपमें वे अपना प्रायः समूचा प्रभाव खो बैठते हैं।

यह सही है कि हमारा अधिकांश काव्य किसी-न-किसी रूपमें संगीतका सहारा लेता रहा है। (यहाँतक कि जयशंकर प्रसादने तो अपने कलात्म-सम्बन्धी विवेचनमें संगीतको कविताका वाहन कह दिया है। स्पष्ट ही यह एक भ्रामक दृष्टि है) अवश्य ही संगीतका सहयोग काव्यके अपने उत्कर्षकी तुलनामें कम है। संगीतके प्रभावसे प्रायः सर्वथा मुक्त रूप हिन्दी साहित्य में प्रथम बार नयी कवितामें मिलता है, जिसका सारा संघटन भाषाके सृजनात्मक प्रयोगपर निर्भर रहता है, संगीत और छन्दकी बैसाखियाँ उसने छोड़ दी हैं। इस दृष्टिसे नयी कविताको कविताका विशुद्धतम रूप कहा जा सकता है। संगीतका 'वाहन' कविताके संचरणके लिए आवश्यक नहीं यह नयी कविताने पहली बार सिद्ध करके दिखा दिया है।

कविताके प्रसंगमें भाषा-प्रयोगविधिके महत्त्वको पिछली शताब्दीसे ही समझा जाने लगा था। यद्यपि इस महत्त्वकी सीमाको उस युगके मनीषी सम्भवतः ठीक-ठीक नहीं आँक पाये। कोलरिज-द्वारा दी गयी कविताकी परिभाषा प्रसिद्ध है 'कविता उत्कृष्टतम शब्दोंका उत्कृष्टतम क्रम है।' बादमें एजरा पाउण्डने भी कहा कि कविता वस्तुतः भाषाका अधिकतम सम्भव अर्थसे सम्पृक्त रूप है। हिन्दीमें अज्ञेयने इस स्थितिकी ओर संकेत किया यह कहकर कि अच्छी भाषा निश्चय अपने-आपमें उपलब्धि है, और कविताकी प्रमुख विशेषता उसकी भाषा-प्रयोग विधि है। भाषाको भावोंका वाहक माननेवाले युगकी तुलनामें यह एक बड़ा साहसपूर्ण कदम है। पर खेद है कि इन कुशल रचनाकारों-द्वारा किये गये इस महत्त्वपूर्ण संकेतको

"ये उपमान मैले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच"

इसीलिए कवि अपनी प्रमिकाको 'सान्ध्य नभकी तारिका' नहीं कहता। काव्य संवेदनाको बदलनेके लिए वह भाषाको तोड़ना चाहता है। पर इस तोड़नेकी दिशाएँ क्या हैं? अतीतमें हमारी काव्य-भाषामें अनेकार्थक शब्दों और पर्यायोंका महत्त्व था क्योंकि छन्द और तुकमें भी कविताके बहुतसे उद्देश्योंकी पूर्ति हुई मान ली जाती थी। आज जब कवितामें भाषा-प्रयोग विधिको मान्यता दी जानेकी बात है तो ऐसे सभी शब्द हमारे लिए बोझ हो जाते हैं। 'सैन्धव' और 'हरि'-जैसे शब्द जिनके अनेक परस्पर असम्बद्ध अर्थ माने गये हैं, और जिन्हें प्रसंगके अनुसार ग्रहण करनेको कहा गया है, अब भाषाकी समृद्धि नहीं वरन् अव्यवस्थाके सूचक हैं। यही स्थिति पर्यायोंकी है। बिना अर्थगत अन्तर किये हुए आँखके लिए नेत्र लोचन नयन दृग आदि पर्याय काव्य-भाषामें तो बाधक ही हैं सामान्य भाषा सीखनेवालोंके लिए भी कठिनाई उत्पन्न करते हैं। पहले छन्द और तुक-विधानमें इनका उपयोग था पर अब ये हमारे लिए अनावश्यक हैं। इस स्थितिको भले साहित्यकारोंने नहीं समझा पर वैयाकरणने समझा यह विडम्बना ही कही जायेगी। रामचन्द्र वर्माने लिखा है एक 'धारण' शब्दके ही हिन्दी-शब्दसागरमें साठसे अधिक अर्थ दिये हैं और 'कमल' के तो वास्तव सैकड़ों पर्याय हैं। इस प्रकारके हजारों शब्द हैं। कवि लोग एक-एक छन्दमें दस-दस और बीस-बीस बल्कि ऐसे किसी एक ही शब्दका प्रयोग करके उन्हें दिमागी कलाबाजीका खेल बनाते रहे हैं पर आज-कलकी परिस्थिति देखते हुए इस प्रकारके अधिकतर शब्द अपने वास्तविक अर्थके सहित हमारे लिए प्रायः अनावश्यक ही हैं। ('अच्छी हिन्दी' हमारी आवश्यकताएँ)।

समकालीन कलावादियोंकी प्रवृत्तियोंको भाषाके क्षेत्रमें अभी निरूपित किया जाता है, जिसकी ओर अपेक्षया कम ध्यान दिया गया है। अब आगे

शब्दों और पर्यायोंसे आगे हमें ऐसी काव्य-भाषा विकसित करनी है जिसमें एक शब्दका एक ही अर्थ हल्की-सी लक्षणाके द्वारा विभिन्न स्तरों-पर अलग-अलग छायाके साथ विवृत हो। अँगरेजी भाषाकी अधिकतर समृद्धि अविकसित शब्दोंके कारण न होकर इन बहुस्तरीय अर्थोंके कारण है। एक ही शब्द 'हाउस' साधारण घर भी है और पार्लमेण्ट भी। हिन्दीमें इसके लिए दो शब्द चलते हैं 'घर' और पारिभाषिक अर्थके लिए 'सदन'। काव्य-भाषाकी अपरिमेय सम्भावना इस बातपर ही निर्भर है। 'पैशन' शब्दका भाव तो है ही पर यह अँगरेजी शब्द उद्दाम वासना शारीरिक भोग इन्द्रिय-जन्य सुख और परस्पर मिलती-जुलती न जाने कितनी छायाएँ देता है। लॉरेन्स डरेलके उपन्यास जस्टिन में एक जगह नारीको कभी बन्द न होनेवाला भावका फव्वारा (फाउण्टेन ऑव पैशन) कहा गया है। यहाँ स्मरणीय है कि 'फाउण्टेन ऑव पैशन' में 'पैशन' शब्दका अर्थ-स्तर तो परिवर्तन सहित होता ही है पर 'फाउण्टेन' का अर्थ-स्तर भी सूक्ष्म ढंगसे बदल जाता है। इस शब्द प्रयोगमें 'फाउण्टेन' सिर्फ 'फव्वारा' न होकर आवेगोच्छ्वसित शारीरिक उल्लास, अबाध प्रवाहका उत्स-जैसा भाव प्रकट करने लगता है। अर्थ-स्तरका ऐसा परिवर्तन विशिष्ट प्रयोग करनेवाले व्यक्तित्वके साथ-साथ आस-पासके शब्दोंके सम्पर्कपर भी निर्भर होता है। शब्दोंका यह निजी स्वरूप और दूसरा उनका वातावरण और तज्जन्य प्रतिष्ठापन भाषा प्रयोग-विधिका एक मुख्य सूत्र है। ऐसी भाषागत समृद्धि शब्दोंके समुचित प्रयोग-द्वारा ही सम्भव है। यह समुचित प्रयोग पुराने रूढ़ अर्थोंको विलुप्त करके उनके स्थानपर नये युग-बोधके अनुकूल नये अर्थोंका निर्माण करता है। सत्य, 'अहिंसा', 'सदाचार' जैसे शब्द धार्मिक और अब राजनैतिक नेताओंके मुँहमें पड़कर 'अनाकर्षी' हो गये हैं, उनसे किसी अपनी प्रतीति नहीं होती। मानवीय मूल्योंका विश्लेषण करनेवाले विचारक प्रायः इस तथ्यकी ओर ध्यान नहीं देते। पुराने सिक्के जिस तरह टकसाली नहीं रह जाते उसी प्रकार बहुत-से शब्द

भी अर्थका विनिमय करनेमें समर्थ नहीं रहे। मूल्यों और आचरणकी इस समस्याको भाषाके स्तरपर कम लोगोंने समझा है। पर सामान्य व्यवहारमें जिन इन शब्दोंको नयी अर्थवत्तासे सम्पृक्त करना काव्य-भाषाका काम है, क्योंकि सृजनात्मक शक्तिका स्रोत सुरक्षित नहीं है। हिन्दीमें माँग कहनेसे 'प्रेम' का दूसरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता पर काव्यात्मक प्रयोगसे उसे अथवा उस-जैसे अन्य अर्थोंको व्युत्पन्न किया जा सकता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अंगरेजीमें संज्ञा शब्दोंके उतने पर्याय नहीं हैं जितनी कि क्रिया-रूपोंकी विभिन्न छायाएँ हैं।

कथा-वस्तुसे भी ऊपर उठकर काव्य-भाषा ही कविता बन जाती है, इसका एक रोचक उदाहरण रामचरितमानसमें मिलता है। सीता-हरण प्रसंगके पूर्व राम सीताको अग्निमें रख देते हैं। इस प्रकार जो सीता रावण द्वारा हरी जाती है वे 'नकली' सीता हैं। पर यह जानते हुए भी कि जो सीता हरी गयी हैं वे 'असली' नहीं 'नकली' हैं, पाठककी करुणा उसी प्रकार उमड़ती है जैसी कि वास्तविक सीताके दुःखमें उमड़ती। यहाँ तुलसी अपना अभीष्ट भाव-बोध काव्य-भाषाकी सामर्थ्यसे ही सम्प्रेषित करते हैं और यह सम्प्रेषण कथा-वस्तुकी बाधाको पार करके अक्षुण्ण बना रहता है। यदि यह सारा आख्यान काव्य-भाषासे विहीन करके साधारण रूपमें कहा जाये तो पाठक या श्रोता सीता-हरणके अवसरपर दुःखी होनेके बजाय प्रसन्न होगा कि देखो रावण कितना मूर्ख बन रहा है! पर तुलसीकी समर्थ काव्य-भाषा कथा-वस्तुके इतने महत्त्वपूर्ण अवरोधसे ऊपर उठकर अभीष्ट भाव-बोधको सम्प्रेषित कर देती है।

काव्य-भाषाके स्वरूपको समझनेमें लोक-साहित्यकी प्रकृतिके विश्लेषण-से भी सहायता मिल सकती है। यदि हम यह विचार करें कि लोक-साहित्य और शिष्टसाहित्यका विभाजक आधार क्या है, तो पता चलेगा कि अभिव्यक्तिके इन दोनों प्रकारोंका प्रमुख अन्तर भाषा-प्रयोगकी विभिन्नता है। लोक-साहित्यमें सामान्यतः भाषाका सृजनात्मक (क्रियेटिव)

प्रयोग नहीं होता लोककवि (या गायक) भावचित्रोंका संघटन नहीं कर पाता। लोकगीतमें तो अधिकतर संगीतके सक्रिय सहयोगमें दैनिक बोल-चालकी भाषा रहती है। काव्य और संगीतके इस मिश्रित रूपमें प्रधानता वस्तुतः संगीतकी रहती है, शब्दोंका योग गौण होता है। यही कारण है लोकगीतोंकी सरसता गायकके कण्ठमें होती है मुद्रित रूपमें वे अपना प्रायः समूचा प्रभाव खो बैठते हैं।

यह सही है कि हमारा अधिकांश काव्य किसी-न-किसी रूपमें संगीतका सहारा लेता रहा है। (यहाँतक कि जयशंकर प्रसादने तो अपने कला-सम्बन्धी विवेचनमें संगीतको कविताका वाहन कह दिया है। स्पष्ट ही यह एक भ्रामक दृष्टि है) अवश्य ही संगीतका सहयोग काव्यके अपने उत्कर्षकी तुलनामें कम है। संगीतके प्रभावसे प्रायः सर्वथा मुक्त रूप हिन्दी साहित्य-में प्रथम बार नयी कवितामें मिलता है जिसका सारा संघटन भाषाके सृजनात्मक प्रयोगपर निर्भर रहता है संगीत और छन्दकी बैसाखियाँ उसने छोड़ दी हैं। इस दृष्टिसे नयी कविताको कविताका विशुद्धतम रूप कहा जा सकता है। संगीतका 'वाहन' कविताके संचरणके लिए आवश्यक नहीं यह नयी कविताने पहली बार सिद्ध करके दिखा दिया है।

कविताके प्रसंगमें भाषा प्रयोगविधिके महत्त्वको पिछली शताब्दीमें ही समझा जाने लगा था। यद्यपि इस महत्त्वकी सीमाको उस युगके मनीषी सम्भवतः ठीक-ठीक नहीं आँक पाये। कोलरिज-द्वारा दी गयी कविताकी परिभाषा प्रसिद्ध है "कविता सर्वोत्तम शब्दोंका सर्वोत्तम क्रम है।" बादमें एजरा पाउण्डने भी कहा कि कविता वस्तुतः भाषाका अधिकतम सम्भव अर्थसे सम्पृक्त रूप है। हिन्दीमें अज्ञेयने इस स्थितिकी ओर संकेत किया यह कहकर कि शब्दकी भाषा जिसका अलग-अलग सम्भावित है, और कविताकी प्रमुख विशेषता उसकी भाषा-प्रयोग विधि है। भाषाको भावोंका वाहक माननेवाले युगकी तुलनामें यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम है। पर सच है कि इस कुशल रचनाकार-द्वारा लिये गये इस महत्त्वपूर्ण संकेतको

परवर्ती इन्हीं साहित्यकारोंने ठीक-ठीक नहीं समझा। और नये साहित्य चिन्तनने भी सम्भव इसी वजहसे भाषाके तत्त्वको केन्द्रीय स्थिति प्रदान नहीं की। वस्तुतः तो काव्य-भाषाके तत्त्वका सम्यक् विश्लेषण आधुनिक कालके समीक्षकों-द्वारा प्रमुख रूपसे होना चाहिए था क्योंकि काव्य-भाषाका प्रयोग उनकी व्याख्या और निर्णयके लिए एक ऐसा सुनिश्चित और तटस्थ आधार हो सकता है, जिसमें समीक्षकके अपने पूर्वाग्रह और व्यक्तिगत रुचिके अनपेक्षित तत्त्व कमसे कम मात्रामें रह जाते हैं। रचनाकी उत्कृष्टता की यह कसौटी सबसे अधिक विश्वसनीय और 'आब्जेक्टिव' होगी। आजकी कविताको जाँचनेके लिए, जो अब सचमुच प्रासके 'रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारोंकी उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है और छन्दोंकी पायलें उतार चुकी है, काव्य-भाषाका ही प्रतिमान शेष रह गया है, क्योंकि कविताके संघटनमें भाषा-प्रयोगकी मूल और केन्द्रीय स्थिति है — 'कविता उत्कृष्टतम शब्दोंका उत्कृष्टतम क्रम है'। पर प्राचीन काव्यकी समीक्षा भी इस प्रतिमानके आधारपर निश्चय ही अधिक सन्तुलित ढंगसे की जा सकती है। मौलिकके अतिरिक्त अनूदित कवित्वके लिए भी यह निकष काम देगा क्योंकि अनुवाद यदि सफल हुआ है तो भाषाके धरातल-पर यह एक नयी सृजन-प्रक्रिया है। इस प्रसंगमें 'गीतांजलि' (स्वयं रवीन्द्रनाथ-द्वारा किया हुआ) और 'रुबाइयात' (फ़िट्ज़जेरॉल्डकृत)के अनुवाद अनायास ही स्मरण हो आते हैं।

वर्तमान कालमें हिन्दीकी गीत-काव्य-परम्पराके प्रभविष्णु न रह जाने-का मुख्य कारण यही है कि उसकी काव्य-भाषा अपनी अर्थ-सम्पृक्ति खो चुकी है। अब भी लाये मरघट और घूँघटके आँसू किसी व्यापक भावचित्र को व्युत्पन्न नहीं करते। प्रतीकोंका बहिष्कार करके 'सीधी-सादी भाषा' का प्रयोग छायावादोत्तर कालमें प्रारम्भ हो चुका था विशेषतः उत्तर कालीन 'बच्चन' में। पर यह 'सीधी-सादी भाषा' एक ओर तो प्रतीकोंको नहीं लेती थी दूसरी ओर संश्लिष्ट भावचित्र संक्रान्त कर सके ऐसी उसमें

सामर्थ्य नहीं थी शायद इसीलिए कि भावाभिव्यक्तिके लिए जिन आधारभूत प्रतीकोंकी आवश्यकता होती है, उन्हें इन कवियोंने ग्रहण ही नहीं किया था भाषाको सरल और सहज बनानेके प्रयासमें। पर यह 'सीधी-सादी भाषा जो उर्दूके अपने मिज़ाजमें खप चुकी थी हिन्दीमें आनेपर हिन्दीकी व्यंजना-प्रिय शैलीके अनुकूल न होनेके कारण अर्थ-च्युत हो गयी। इलियटके शब्दोंमें सत्यको स्टेट' (कहा) नहीं किया जा सकता केवल 'कम्यु' (सम्प्रेषित) किया जा सकता है, जब कि छायावादोत्तर कालीन इन गीतकारोंने सत्यको महज सीधी-सादी भाषामें कह देना चाहा।

काव्य-भाषाका विश्लेषण कविताकी रचना-प्रक्रियाको समझने और उसकी व्याख्या करनेके लिए तो मुख्य गुण सिद्ध होता ही है दूसरी ओर भाषाकी अपनी प्रकृतिका सम्यक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। कई सुप्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिकोंकी यह मान्यता है कि भाषाका आदिम रूप अपनी प्रकृतिमें बहुत कुछ काव्यात्मक-संगीतात्मक था। काव्य और संगीतका यह साहचर्य भाषाके प्रारम्भिक कालसे देखा जा सकता है, जो वर्तमान काव्य सौभाग्य या दुर्भाग्यसे समाप्त हो चुका है। इस साहचर्यकी लम्बी अवधिमें शायद काव्य ही संगीतपर अधिक निर्भर रहा संगीत तो काव्यके शब्द-मात्र स्वीकार करता था। बौदोलेयरकी कलाकी महत्ता इस बातमें बतायी जाती है कि वह विचारोंसे विषयहीन (नॉनकन्सेप्चुअल) ध्वनियोंके रूपमें सम्पृक्त है, और दार्शनिक सत्यको ऐसी ध्वनियोंसे व्यक्त करती है जिनसे कोई निश्चित शब्दोंमें नहीं बाँधे योग्य भाव सम्प्रेषित नहीं होते ("इट इज अ स्ट्रेंज्ड बाय बौदोलेयर्स आर्ट दैट इट इज कम्पोज्ड ऑफ नॉन-कन्सेप्चुअल साउण्ड दैट इज टु से देयर इज फिलॉसॉफिकल ट्रुथ रीचेज अप विद अनडिफाइन्ड इन्टेन्सिटी ईवन दो बौदोलेयर्स साउण्ड्स डू नॉट कॉन्वे डेफिनिट वर्बली एक्सप्रेसिबल आइडियाज।" 'शाब्दिक विधानी पद परिचयात्मक अर्थ।) स्वरोंके अपेक्षया निर्वैयक्तिक

और निरपेक्ष होनेके कारण इस रूपमें उसका प्रयोग सम्भव है पर यदि अपनी प्रकृतिसे अर्थोंसे सम्बद्ध है जिन अर्थोंको आमूल परिवर्तित किया जा सकता है, पर सर्वत्र विमुक्त नहीं किया जा सकता। शब्द-भाषाको अपारदर्शी माननेवाले विम्सैटके विचारोंके विवेचनमें यह बात कही जा चुकी है। 'माइकेल सिफनी'के प्रसंगमें ही आगे यह कहा गया है कि उसकी चतुर्थ गत (मूवमेन्ट)में कलाकारने 'शब्दों (वर्ड्स)'का प्रयोग किया है जिसके 'ओड टु जॉय' थे। इस दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि जहाँ काव्यने अपने-आपको संगीतपर अधिक आधारित किया वहाँ संगीतने भारतीय पद्धतिमें कुछ 'बोलों'का उपयोग किया और पाश्चात्य प्रकारोंमें यदा-कदा कुछ 'शब्दों'का अपनी परिधिमें स्वीकार कर लिया। संगीतके क्षेत्रमें इन 'बोलों' और 'शब्दों'के अर्थका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। संगीत-समीक्षामें उसी सिम्फनीको 'विशुद्ध' कहा जाता है जिसके पीछे किसी शब्द-रचनाका आधार न हो भारतीय पद्धतिमें वाद्य संगीतके अतिरिक्त इस प्रसंगमें 'तराना' का स्मरण किया जा सकता है। कविताने इन स्थितियोंके समकक्ष आधुनिक काल-में ह्विटमैन और निरालाके संघर्षोंकी नींवपर अपने-आपको संगीतके सहारेसे मुक्त किया है, और अपनी प्रकृतिकी 'विशुद्धता' स्थापित की है। इसीलिए नयी कविताको कविताका शुद्धतम रूप कहा जा सकता है।

आदिम भाषाके काव्यात्मक होनेकी बात शेलीने भी कही है। इस विषयका विवेचन करते हुए बारफील्डने उनका मत उद्धृत किया है 'समाजकी आरम्भिक स्थितिमें प्रत्येक लेखक अनिवार्यतः कवि होता है क्योंकि भाषा स्वयं कविता होती है' 'प्रत्येक मौलिक भाषा मानो अपने उद्गमके निकट एक चक्राकार कविताकी अव्यवस्था हो।' भाषाका प्रारम्भिक रूप काव्यात्मक था या नहीं यह कहना तो कठिन है पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा अपने मूल रूपमें 'लयात्मक ध्वनियों' का संघटन थी। इन 'लयात्मक ध्वनियों'को ही हम काव्यका रूप मान लें तो दूसरी बात है। इन आरम्भिक 'लयात्मक ध्वनियों'को अर्थवादमें

किया गया होगा ऐसा मानना संगत लगता है। ध्वनि उत्पन्न करना शरीरकी एक सहज वृत्ति है, और मनुष्यकी आरम्भिक 'समझ' (बुद्धिका पूर्व-रूप) में उन ध्वनियोंको कुछ स्थूल पदार्थों और स्थितियोंसे सम्बद्ध किया होगा। बच्चोंकी भाषाका अध्ययन और पर्यवेक्षण भी हमें इसी निष्कर्षकी ओर ले जाता है। शिशु केवल आरम्भिक इन्द्रिय-बोधों (सेन्सेशन्स) से युक्त होता है। प्रतिबोधन (पर्सेप्शन्स) की परवर्ती स्थिति होती है। अपने जन्मके आरम्भिक कुछ मासोंमें बच्चा केवल अपने होंठोंसे ध्वनियाँ करता है। इन ध्वनियोंको माता-पिता अपने सम्बोधनके रूपमें ग्रहण करते हैं, और कालान्तरमें शिशु भी इन ध्वनियोंके साथ माता-पिताकी उपस्थितिके भावका सम्बन्ध कर लेता है। यही कारण है कि माता-पिताके लिए प्रायः सभी भाषाओंमें ऐसे नाम हैं जो ओष्ठ्य-ध्वनियोंसे बने हैं। परिवारके अन्य निकट सम्बन्धियोंके नाम भी या तो ओष्ठ्य-ध्वनियोंसे बने होते हैं या फिर आवृत्तिमूलक होते हैं — बाबा मामा चाचा काका आदि। भाषाके इस आरम्भिक रूपमें अर्थ ध्वनिका अनुवर्ती है। एक प्रकारसे भाषा अपनी ध्वनियोंके रूपमें अपारदर्शी ही होती है उसे पारदर्शी हम अपने सामाजिक व्यवहारसे बनाते हैं। और इस सीमा तक कि आखिरकार भी रंग और स्वरकी भाँति हम उसे कविताके प्रसंगमें फिरसे अपारदर्शी नहीं बना सकते।

विकास-क्रममें भाषाके दो रूप देखे जा सकते हैं। एक तो यह जो आरम्भिक स्थूल और नामवाचक रूप है, जब अर्थको प्रारम्भिक मानवीय समझ (चिन्तन कहना उचित न होगा) के द्वारा ध्वनियोंसे सम्बद्ध किया जाता है। भाषाका यह आरम्भिक रूप रूपात्मक और भावनासे प्रसूत हो सकता है, पर इसमें अर्थकी सूक्ष्मता न होनेसे काव्यात्मक कहना संगत नहीं जान पड़ता। एक बार बन जानेपर यह नामवाचक व्यावहारिक रूप भाषा-प्रयोगकर्ताओंकी संवेदनाको नियमित और अनुशासित करने लगता है। हम अपने गहरे चिन्तनके आभासोंको बहुत-कुछ इस सूक्ष्म भाषा-रूपमें

उपलब्ध करते हैं। (द्रष्टव्य 'भाषा और संवेदना')। भाषा और संवेदना-की इस अन्तर-प्रक्रियाको दृष्टिमें रखकर यह कहा जा सकता है कि भाषा यथार्थके प्रति हमारी समूची प्रतिक्रियाका कुल योग है, अपनी स्थूल स्थितिमें सामान्य भाषाके रूपमें और अमूर्त स्थितिमें काव्य-भाषाके रूप-में। पहले रूपमें भाषिक अर्थ स्थूल चिन्तन-क्रमसे प्रसूत्पन्न और उसके अनुवर्ती होते हैं और दूसरी जगह यह अर्थ और संवेदनाके रूपमें उसकी सूक्ष्म उपलब्धि भाषासे अनुशासित होने लगती है।

भाषाके द्वारा चिन्तन-क्रम कैसे प्रभावित (कण्डीशण्ड) होता है या किया जा सकता है, इसका एक रोचक और सटीक उदाहरण जार्ज ऑरवेलके अनूदित उपन्यास १९८४ में मिलता है। सर्वसत्तावादी पद्धतियाँ किस प्रकार लोगोंके चिन्तनको गतिरुद्ध करती हैं उसमें भाषाका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिखलाया गया है। १९८४ के समाजमें भाषासे 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य'-जैसे विभावनासे सम्बद्ध अनेक शब्दोंको मिटा दिया गया है। इसके फलस्वरूप राज्य-प्राप्त इच्छित चिन्तन ही व्यक्तियोंके मनमें पनपता है। जो शब्द कोशोंसे हटा दिये गये हैं उनके विभावनोंसे जनताका कोई परिचय नहीं रहा। 'सत्तावादियों'की इस भयानक प्रक्रियामें भाषाका निर्मम रूप कैसे सहयोगी बना लिया गया है। पर मानवीय जीवन-क्रम और संस्कृतिके विकासमें भाषाके अप्रतिम महत्त्वको और सिद्ध करता है। इस महत्त्वका एक और साक्ष्य साहित्यके इतिहासोंमें मिलता है। प्रायः देखा गया है कि महत्त्वपूर्ण और नवीन वैचारिक आन्दोलन मूलतः भाषाके किसी नव विकसित रूपसे सम्बद्ध होते हैं। भक्ति आन्दोलन और ब्रजभाषाका सम्बन्ध मध्ययुगमें तथा १९वीं शताब्दीके भारतीय पुन-र्जागरण तथा नवोन्मेषशीलताका सम्बन्ध आधुनिक कालमें भाषाकी शक्ति सामर्थ्यके उदाहरण हैं। इसी प्रकार परम्पराएँ भी प्रायः भाषाके स्तरपर स्थिर होती हैं जैसे रीतिकालके परवर्ती ब्रजभाषा कवियोंकी अनेक ह्रासोन्मुख रीतिग्रस्त बद्ध ब्रजभाषा। हिन्दीके छायावादोत्तर साहित्यमें भी

वर्तमान साहित्यिक और वैचारिक गतिरोध (जिसमें न रचनाकी नवीन दिशाओंका सन्धान है, और न सन्धानके लिए कोई आकुलता ही है जो और भी दयनीय है) का प्रधान कारण भाषाका अव्यवस्थित प्रयोग है। पर्यायोंका बिना विचारे व्यवहार, वाक्य-विन्यासमें शब्दोंके स्थानका साव धानीपूर्वक निर्धारण न होना 'तो' 'भी' और 'ही'-जैसे बलात्मक शब्द रूपोंका अनुचित-अनावश्यक प्रयोग विशेषणोंकी भरमार (किसीने ठीक ही कहा है कि जो लेखक विशेषणोंका जितनी अधिक संख्यामें प्रयोग करता है, उसकी भाषा उतनी ही 'रंक' होती है।)—ऐसी प्रवृत्तियाँ भाषा-सम्बन्धी सामान्य चेतनाके अभावकी द्योतक हैं। हमारे अधिकांश लेखक अब भी उसी युगमें रहते दिखते हैं जब भाषाको भावोंकी वाहिनी माना जाता था। भाषा और संवेदनाकी सम्पृक्त प्रकृतिको समझनेवाले लेखक हमें और चाहिए, तभी नयी कविताका गतिरोध दूर हो सकेगा। भाषा-को भावोंका वाहन मानते ही भाषाकी उपेक्षा आरम्भ हो जाती है, जिसका अन्त हिन्दीमें किया जाना शेष है। भाषा ऊपरका ढाँचा न होकर विकसित मानवीय प्रकृतिका अनिवार्य और अभिन्न अंग है। स्वत-क्रियाओं (रिफ्लेक्स ऐक्शन्स) और सहज वृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) में पशु और मनुष्य एक-जैसे हैं भाषा या कहिए विचार करनेकी क्षमता दोनोंमें अन्तर कर देती है।

प्रस्तुत विवेचनको समाप्त करनेके पूर्व भाषा और संस्कृतिके पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें कुछ चर्चा करना चाहूँगा। काव्य-भाषाके सन्दर्भमें इस समस्याकी विशिष्ट महत्ता स्वयं सिद्ध है। अबतकके प्रायः सभी भाषा-वैज्ञानिकोंने भाषाको अनेक मानवीय स्थितियोंसे निरपेक्ष माना है। वे भाषाका कोई सम्बन्ध राष्ट्रीयता जातीयता (रेशियल कैरेक्टर) या संस्कृतिसे नहीं मानते। एडवर्ड सेपीरने अपनी प्रख्यात कृति 'लैंग्वेज'में इसी प्रकारका मत प्रतिपादित किया है। यहाँ राष्ट्रीयता और जातीयता

के तत्त्वोंको छोड़कर भाषा सांस्कृतिक स्थितिसे भाषाका क्या सम्बन्ध है, इसीका विवेचन अभिप्रेत है। काव्य-भाषाके उपर्युक्त विश्लेषणके प्रकाश में शैली और अन्य पुराने भाषा-वैज्ञानिकोंके मतसे सहमत नहीं हुआ जा सकता। यों तो भाषाके सामान्य रूपमें भी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रतिफलित होती दीखती हैं। हिन्दीमें पारिवारिक सम्बन्धों की बड़ी समृद्ध शब्दावली है – ताऊ, चाचा मामा फूफा मौसा – अँग्रेजीके एक शब्द 'अंकल'के विभिन्न रूपोंको व्यक्त करते हैं। इन सम्बन्धों की बड़ी सुस्पष्ट स्थिति हमारी भाषामें हमारे संयुक्त परिवारकी प्रथाके कारण है।

सामान्य भाषामें सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियोंका दबाव अपेक्षया कम है। पर काव्य-भाषाके क्षेत्रमें सांस्कृतिक चेतनाका महत्त्व अप्रतिम है। काव्य-भाषाका अपने प्रयोक्ताओंकी संस्कृतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, वस्तुतः उसका स्वरूप एक बड़ी सीमा तक सांस्कृतिक आधारपर गठित होता है। प्रतीकों तथा भावचित्रोंके विधानमें काव्य-भाषा अपने सांस्कृतिक परिवेशसे अनिवार्यतः जुड़ी रहती है। प्रायः इसी लिए सभी विकसित काव्य भाषाएँ अपनी संस्कृतिको विवृत करती हैं। इस स्थापनाको हिन्दी और उर्दूके पारस्परिक सम्बन्धकी विवेचनासे पुष्ट किया जा सकता है। यदि निजत्व बहिसे देखनेकी चेष्टा की जाय तो पता चलेगा कि हिन्दी-उर्दूका अन्तर व्याकरणका न होकर मुख्यतः उस सांस्कृतिक वातावरणका है, जो काव्य-भाषामें व्याकरणकी तुलनामें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी तथा हिन्दी प्रदेशकी विभिन्न बोलियोंके पारस्परिक सम्बन्धविषयक मान्यताओंको दो हिस्सोंमें इस प्रकार रखना चाहूँगा

१ एक तो यह कि हिन्दी-उर्दूमें अन्तर शब्द-समूह अथवा लिपियोंका उतना नहीं है (जैसा कि अभीतक कहा जाता रहा है) जितना कि दो सांस्कृतिक पद्धतियोंका जिनमें वे भिन्न हैं और जिनसे उनका अपना अपना मिजाज (टेम्पर) बना है। बोल-चालकी भाषाके रूपमें वे एक

है अन्तर अधिकतर काव्य-भाषाकी स्थितिमें है। और

२ इसीलिए भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे अवधी ब्रज या भोजपुरी खड़ी बोली हिन्दीसे भिन्न रूपमें (अलग-अलग अपभ्रंशोंसे) व्युत्पन्न होनेपर भी एक ही काव्य-भाषाके अन्तर्गत आती हैं जब कि उर्दू अन्ततः हिन्दी की 'सगी बहन' होनेपर भी भिन्न सांस्कृतिक परम्परासे सम्बद्ध होनेके कारण यहाँ अलग हो जाती है।

सांस्कृतिक वातावरणकी चेतनाके कारण उर्दूकी नयी कवितामें भी हम शराब साकी और जामकी स्थिति स्वीकार कर लेते हैं, उसका भावबोध बिना कठिनाईके ग्रहण करते हैं। पर यदि हिन्दीका कोई कवि आजके युगमें इन प्रतीकोंका प्रयोग करता है तो यह स्थिति हमें आपत्ति जनक लगती है। हम ऐसी कविता और ऐसे कवियोंको पिछड़ा हुआ मानते हैं। एक हद तक इस सांस्कृतिक वातावरणसे ही काव्य भाषाका अपना मिज़ाज बनने लगता है। हिन्दी और उर्दूके मिज़ाजमें एक अन्तर यह है कि हिन्दीकी काव्य-भाषा व्यंजनाको अधिक महत्त्व देती है पर उर्दूमें सीधी-सादी सहज-सरल भाषा (सादगोई) काव्य मिज़ाजके अधिक अनुकूल मानी जाती है, क्योंकि उर्दू दरबार और बाज़ार दोनोंकी ही भाषा रही है। 'सुबह होती है शाम होती है, उम्र यूँ ही तमाम होती है' या 'मौतका एक दिन मुअय्यन है नींद क्यों रात-भर नहीं आती' जब उर्दूकी पंक्तियाँ मानी जाती हैं तो उनमें काव्यगत अनुभूति और गहराईकी प्रतीति होती है। किन्तु यदि इन्हीं पंक्तियोंको हिन्दीका कहा जाय तो हमारी काव्य-भाषाका व्यंजना-प्रिय मिज़ाज अलग होनेके कारण ये हमें अधिकसे अधिक सूक्ति जान पड़ती हैं इनका अधिकांश काव्य-तत्त्व विलुप्त हो जाता है। इस दृष्टिसे अन्ततः एक ही भाषारूप हिन्दी-उर्दूका अन्तर सामान्य भाषाके स्तरपर न होकर काव्य-भाषाके स्तरपर है, और खड़ीबोली हिन्दी अवधी ब्रज भोजपुरी प्रभृति अलग अलग अपभ्रंशोंसे विकसित होते हुए और व्याकरणगत भिन्नताओंको रखते

हुए भी एक काव्य भाषाके अन्तर्गत आती है। यही कारण है जिससे हिन्दी साहित्यके इतिहासमें मीर और गालिबको स्थान नहीं मिलता पर विद्यापति कबीर, जायसी सूर, तुलसी भारतेन्दु, निराला और अज्ञेय एक ही विकासशील काव्य भाषाके प्रयोक्ता हैं।

तुलसीकी काव्य-भाषा
कुछ संकेत

काव्य-भाषाकी प्रकृतिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें विस्तारसे चर्चा हो चुकी है। इस प्रसंगमें यह सभी विचारक मानते हैं कि प्रत्येक युगमें काव्य भाषा और जन-भाषाके बीच अन्तर रहता है। साथ ही यह प्रवृत्ति भी मान्य है कि काव्य-भाषाका आधार धीरे-धीरे बोल-चालकी भाषाको प्रश्रय देने लगा है। प्राचीन और मध्यकालीन काव्य-भाषाओंका आधार-रूप बोल-चालकी भाषासे दूर हटा हुआ था – धीरे-धीरे यह अन्तर कम हुआ है। इस स्थितिको प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक और अपने क्षेत्रके अप्रतिम मौलिक चिन्तक जैस्पर्सनने इस प्रकार प्रस्तुत किया है 'कविता और *गद्यके शब्द-समूहके बीचका अन्तर विकसित भाषाओंकी तुलनामें प्राचीन* और अविकसित भाषाओंमें कहीं अधिक था।' ('ग्रोथ ऐण्ड स्ट्रक्चर ऑव द इंग्लिश लैंग्वेज' पृष्ठ ५१) किन्तु इस प्रसंगमें यह स्मरणीय है कि आधुनिक कालमें काव्य-भाषाका आधार क्रमशः बोल-चालकी भाषाके निकट आ जानेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनोंके बीचका अन्तर लुप्त हो गया है या कि निकट भविष्यमें इसके लुप्त हो जानेकी सम्भावना है। क्योंकि गद्य और कविताके बीचका अन्तर मात्र शब्द-समूहका न होकर भाषा-प्रयोग-विधिका होता है। बोल-चालके शब्द अपना लेनेपर भी कविताकी भाषा उनका प्रयोग अपने ढंगसे करती है, और कवितामें अन्ततः इस प्रयोगका ही महत्त्व है। इस दृष्टिसे कविताकी भाषा बोल-चालके निकट आ जानेपर भी शब्द-समूह और वाक्य-विन्यास दोनों ही क्षेत्रोंमें

अपने-आप बोल-चालकी भाषा नहीं बन सकती। वर्तमान स्थितिमें कविता और गद्यकी विभाजक-रेखा यह भाषा-प्रयोग-विधि ही है, जिसमें शब्द-समूहका अपना निरपेक्ष महत्त्व न होकर उसकी प्रयोग-विधिका महत्त्व होता है। कवियोंने उत्तरोत्तर बोल-चालका शब्द-समूह अपनाया है यह ठीक है पर न बोल-चालकी भाषामें कविताका सृजन नहीं करते उनकी भाषा काव्य-भाषा ही रहती है, भले ही बोल-चालके शब्दोंको अपने आधारमें ग्रहण कर ले। 'पाजामेमें' नाग-का प्रयोग आधुनिक हिन्दी कवितामें हुआ है जो निरन्तर ही अभूतपूर्व और साहसिक है, पर बोल-चालकी भाषाका 'भाड़ा' और इस कवितामें प्रयुक्त 'भाड़ा' में अन्तर है यह दूसरा प्रयोग सामान्य बोल-चालके अर्थसे अलग कई भाव-स्तरोंका एक साथ उद्घाटन करता है।

काव्य-भाषा और जन-भाषा या बोल-चालकी भाषाके बीचका अन्तर समझ लेनेपर हिन्दीकी मध्यकालीन काव्य-भाषाका विश्लेषण अपेक्षया आसानीसे किया जा सकता है। प्राचीन अंगरेजी काव्य-भाषाकी चर्चा करते हुए बैल्सनका कहना है 'कविताकी भाषा समूचे इंग्लैण्डमें किसी सीमा तक एक ही रही जान पड़ती है, कुछ मिलाकर एक कृत्रिम अवधी बोली जिसमें देशके उन सभी भागोंके शब्द घुल-मिल गये जहाँ कविता लिखी जाती है कुछ-कुछ वैसे ही जैसे होमरकी भाषा ग्रीसमें विकसित हुई थी।' ('पोयट ऐण्ड लैंग्वेज ऑव द इंग्लिश लैंग्वेज' पृ० ५१)। हिन्दीकी मध्यकालीन काव्य-भाषाकी चर्चाके समय बैल्सनकी यह बात अनायास ही याद हो जाती है। कबीर, जायसी सूर, तुलसी सबीने इस 'कृत्रिम बोली' का प्रयोग अपने काव्यमें किया है। यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि प्राचीन और मध्यकालमें काव्य-भाषाकी यह 'कृत्रिमता' अपेक्षया अधिक थी। इसीलिए 'संसकिरत' के 'कूप जल' को छोड़कर 'भाखा' के 'बहते नीर' को स्वीकार करनेवाले कबीर भी जब कविता लिखते हैं तो उन्हें 'बहते नीर' को किन्हीं पात्रोंकी मर्यादा देनी ही पड़ती है। हाँ

अँगरेजी और हिन्दीकी काव्य-भाषामें एक मौलिक अन्तर है। अँगरेजी काव्य भाषामें "इसके विभिन्न भागोंके मध्य पृथक्-भिन्न भये हैं" पर हिन्दीकी काव्य-भाषा अपने व्यापक क्षेत्रकी कई बोलियोंका अलग-अलग आधारके रूपमें प्रयुक्त करती है। समूचे मध्यकालमें व्यापक काव्य भाषाका मौलिक स्वरूप एक ही रहा यद्यपि इसके आधार अलग-अलग थे — खड़ीबोली ब्रज अवधी ऐसी बोलियाँ जिनका व्याकरणात्मक गठन एक दूसरेसे भिन्न था और है। इसीलिए अलग-अलग बोलियोंके आधारोंपर विकसित करने पर भी कबीर, सूर, तुलसी एक ही काव्य भाषाका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। आधुनिक काव्य स्थिति उलट गयी है। अब खड़ीबोलीके एक ही आधारपर दो काव्य-भाषाओंका उदय हुआ है — हिन्दी और उर्दू।

काव्य भाषा और उसके आधारोंके पारस्परिक सम्बन्धोंका बड़ा सटीक विवेचन तुलसीकी काव्य-भाषाके प्रसंगमें किया जा सकता है। तुलसीने स्वयं ही अपनी काव्य-भाषाके दो स्वतन्त्र आधार चुने हैं — अवधी और ब्रज। इन दो अलग-अलग बोलियोंपर विकसित तुलसीकी काव्य-भाषा क्या एक ही है, और यदि एक ही है तो क्यों? इस मौलिक समस्याका यदि समुचित समाधान हम दे सकें तो हिन्दीकी मध्यकालीन काव्य-भाषाकी विशेषता और समूची काव्य-भाषाकी सामान्यतः व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि हिन्दीकी काव्य-भाषा जो एक व्यापक भौगोलिक क्षेत्र और कई जातियोंकी काव्य भाषा रही है, प्रायः एक सहस्र वर्षोंके इतिहासमें अपने आधार कई बार बदल चुकी है एक ही युगमें एकसे अधिक आधार रख चुकी है, खड़ीबोली ब्रज राजस्थानी अवधी भोजपुरी और मैथिली-जैसे आधार जिनकी व्युत्पत्ति अलग-अलग है, व्याकरणात्मक गठन अलग-अलग है।

प्रस्तुत संक्षिप्त निबन्धमें तुलसीकी काव्य-भाषाकी परीक्षा इन आधारों और काव्य-भाषाके संघटनके अन्तर्सम्बन्धोंकी दृष्टिसे करना अभीष्ट है, क्योंकि यही मौलिक समस्या है। 'आधार' अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिक और

अधिकतर व्याकरणात्मक गठनका बोध कराता है। जिसपर काव्य-भाषाका संगठन प्रमुखतः रचनाकारोंकी वैयक्तिक प्रतिभा-द्वारा सम्पन्न होता है। यह 'आधार' भाषाका वह रूप है जिसे रचनाकार प्रायः समाजसे ग्रहण करता है। सामान्य भाषासे काव्य भाषाकी भिन्नताका प्रमुख कारण उनका भावबिम्बोंका नियोजन है। अधिकतर इन भावबिम्बोंके माध्यमसे ही सामान्य रूपसे भिन्न अपने विशिष्ट और वैकल्पिक अर्थकी प्रतीति कवि कराता है। ये प्रतीक और भावबिम्ब नामोंके आधारपर विकसित किये जाते हैं। और यही कारण है जिसमें सामान्य भाषाकी तुलनामें काव्य-भाषामें नामोंका योग कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। साधारणतः भाषाका विश्लेषण करते समय कहा जाता है कि व्याकरण और शब्द-समूहके दो तत्त्वोंमें-से व्याकरण-का तत्त्व भाषाके गठनमें अधिक महत्त्व रखता है। उदाहरणके लिए बताया जाता है कि अनेक विदेशी शब्दोंकी उपस्थितिके बावजूद व्याकरणके कारण ही भाषा विदेशी नहीं हो जाती शब्द-समूह इसलिए व्याकरणात्मक गठनकी तुलनामें काफी बदलता भी है। भाषाके सामान्य रूपके प्रसंगमें यह विश्लेषण ठीक है। पर काव्य-भाषाके सन्दर्भमें स्थिति दूसरी हो जाती है। यहाँ कविका सामान्य भाषा प्रयोगसे जो अतिरिक्त कौशल है, वह मुख्यतः शब्द-समूह या कहिए नामों के विभिन्न स्तरोंके प्रयोग और आयोजनमें ही होता है। किसी जातिके सांस्कृतिक तत्त्वोंका समावेश नामोंमें होता है न कि व्याकरण रूपोंमें और भावबिम्बों अथवा प्रतीकोंका विकास इन सांस्कृतिक तत्त्वोंके आधारपर और इनके माध्यमसे किया जाता है जो काव्य-सृजनकी मुख्य प्रक्रिया है। यहाँ कोई भ्रम न हो इसलिए अपनी पूर्व स्थापनाको दोहराया जा सकता है कि महत्त्व भाषाके 'नामों का नहीं है वरन् उनके काव्यात्मक प्रयोगका है क्योंकि शब्दकी सम्भावना उसके सशक्त प्रयोगमें ही उपलब्ध की जा सकती है। यही कारण है कि जिससे अनवरत व्यवहारसे शब्द नहीं मिटते उनके प्रयोग और सन्दर्भ मिट जाते हैं। सामान्यतः यह कहे जानेपर कि अमुक

शब्द मिल गया है। यही यह लिया जाना चाहिए कि प्रचलित सन्दर्भमें वह अपना अर्थ खो चुका है। कोई एक शब्द जो प्रचलित सन्दर्भमें अर्थ-हीन और चुका हुआ लगता है, रचनाकार-द्वारा किस सन्दर्भमें व्यवहृत होनेपर अपनी नयी छाया व्युत्पन्न कर सकता है, करता है।

तो काव्य-भाषामें और उसकी भाषा-प्रयोग-विधिमें नामाके संगत प्रयोगकी केन्द्रीय स्थिति होती है। और यदि नामाकी दृष्टिसे तुलसीकी अवधी और ब्रजका विश्लेषण किया जाये तो दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। 'रामचरितमानस'के अयोध्याकाण्ड और 'विनयपत्रिका'के विनय-पदोंके सीमित भाषिक विश्लेषणके आधारपर कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि संज्ञा शब्दोंके तद्भव और ठेठ प्रयोग बहुत कम हैं। अधिकतर संस्कृतकी तत्सम शब्दावली व्यवहृत हुई है। 'रामचरितमानस'के व्यंजनान्त शब्दोंमें लघु उकार जोड़नेकी प्रवृत्ति व्यापक रूपसे दिखाई देती है — मनु मुकुर मुकुंदु, अमि पंकु इत्यादि। शब्दोंमें अन्त्य अ की ध्वनि विलुप्त हो जानेपर सहारेके लिए यह लघु उकार जोड़नेकी प्रवृत्ति आधुनिक कालकी कई बोलियोंमें मिलती है। अवधी ब्रज और कन्नौजीपर कार्य करनेवाले कई भाषा वैज्ञानिकोंने इस प्रवृत्तिको परिलक्षित किया है। पर आश्चर्यजनक स्थिति यह है कि तुलसीकी ब्रजभाषामें व्यंजनान्त शब्दोंके अन्तमें यह उ जोड़नेकी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती जब कि आधुनिक कालमें बोली जानेवाली ब्रज और उसके उप-रूपोंमें यह प्रवृत्ति व्यापक रूपसे मिलती है। इसका एक कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि अपनी दृष्टिसे तुलसीने ब्रजकी अपेक्षा अवधीका अधिक ठेठ प्रयोग करना चाहा हो। जो भी हो इतना स्पष्ट है कि आधुनिक कालकी ब्रज और अवधी दोनोंमें व्यंजनान्त एक-वचन तथा शब्दोंके अन्तमें एक लघु उकार जोड़नेकी प्रवृत्ति मिलती है, पर तुलसीकी अवधी ही इस प्रवृत्तिको प्रतिफलित करती है ब्रजभाषा नहीं। हाँ समास-निर्माणकी मूल संस्कृत-वृत्ति 'रामचरितमानस' और

'विनयपत्रिका' दोनोंमें ही भाषामें काफी व्यापक रूपसे मिलती है, जो संस्कृतकी तत्सम शब्दावलीका रंग और गहरा कर देती है।

संस्कृतकी तत्सम शब्दावलीमें कभु ण जोड़कर (आगमनु, सेवकु आदि) तुलसीने उसे अवधीका आभास देना चाहा है पर निश्चय ही इस आभास की प्रकृति अत्यन्त क्षीण है और इससे शब्दोंकी तत्सम स्थितिमें कोई परिवर्तन घटित नहीं होता। इस संज्ञा शब्दावलीका सीमित विश्लेषण प्रकट करता है कि 'रामचरितमानस' अयोध्याकाण्डके अपनी चौपाइयों-सहित एक दोहेमें औसतन दो शब्द तद्भव मिलते हैं और लगभग यही स्थिति 'विनयपत्रिका'की है जहाँ औसतन एक पदमें दो तद्भव शब्द हैं। इस प्रकार तुलसीकी संज्ञा शब्दावलीका बहुत बड़ा अंश संस्कृत तत्सम शब्दोंसे बना है, जो 'रामचरितमानस'की अवधी और 'विनयपत्रिका'की ब्रजभाषा में एक-जैसा है। इस एक समान शब्दावलीके आधारपर ही कवि अपने प्रतीकों और भावचित्रोंको विकसित करता है, और प्रायः उनकी स्थिति भी एक-जैसी ही रहती है। तुलसीकी अवधी और ब्रजका अन्तर अधिकतर सर्वनामों परसर्गों और क्रिया-रूपोंमें देखनेको मिलता है। पर एक तो संज्ञा शब्दावलीकी तुलनामें इनकी संख्या बहुत कम है, और दूसरे काव्य-भाषाके विधानमें उनका महत्त्व संज्ञा शब्दों-जैसा नहीं है। इसीलिए ब्रज और अवधीके दो स्वतन्त्र आधारोंपर विकसित होनेपर भी तुलसीकी काव्य-भाषा एक है। और इसी तथ्यपर आगे सोचा जा सकता है कि कवियोंकी ब्रज अवधी आदिके आधारोंपर बनी हिन्दीकी मध्यकालीन काव्य-भाषा मूलतः एक ही है।

■

प्रसादकी काव्य-भाषाका आरम्भिक रूप

सन्धिकालीन स्थितिका अध्ययन

हिन्दी कविताके इतिहासमें उस मोड़का असाधारण महत्त्व है जहाँ शताब्दियोंके अनवरत प्रयोग और परिष्कारके उपरान्त काव्य-भाषाके एक रूप ब्रजभाषाको चुका हुआ मानकर उसके स्थानपर खड़ीबोलीको प्रतिष्ठित किया गया। साहित्यिक प्रयोगके लिए भाषाके एक रूपसे दूसरेमें यह संक्रान्ति कैसे घटित हुई इसका बड़ा महत्त्वपूर्ण साक्ष्य बन-कर प्रसादकी आरम्भिक कविताएँ प्रस्तुत करती हैं। भाषा और संवेदना-का व्यक्तित्वके गहरे स्तरोंपर संघर्ष नये भाषा-रूपके साथ नयी संवेदना का उदय और अन्ततः भाषा तथा संवेदनाका पुनः अपना सन्तुलन प्राप्त करना इस क्रमिक संघर्षका तात्त्विक अध्ययन प्रसादकी इन रचनाओंके माध्यमसे किया जा सकता है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि प्रसाद स्वयं ऐसे बड़े क्रान्तिकारी कवि नहीं थे जो अपनी आरम्भिक कविताओं-से ही समस्त हिन्दी साहित्यको आन्दोलित कर देते। प्रसादका व्यक्तित्व धीरे-धीरे विकसित हुआ है। उनका कृतित्व जैसे एक सूक्ष्म विकासका 'स्लो फ़ोटोग्रैफ़िक' प्रक्रिया-द्वारा प्रस्तुत चित्र है। इस दृष्टिसे ब्रजभाषासे खड़ीबोलीमें संक्रान्तिका बड़ा सटीक और समानान्तर रूप प्रसादके विक-सनशील कृतित्वमें देखनेको मिलता है। खड़ीबोलीके प्रथम उन्नायक होनेपर भी भारतेन्दुने कविताकी भाषाकी समस्या सृजनात्मक स्तरपर सुलझानेकी चेष्टा नहीं की थी। हिन्दी कविताके उपयुक्त युगान्तकारी मोड़पर हम प्रसादको खड़ा हुआ पाते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं

कि भारतेन्दुका साहस भाषा-प्रयोगकी दृष्टिसे अप्रतिम था पर उस साहसके परिणामोंसे बादमें प्रसाद और उनके समवर्तियोंको ही बड़े सूक्ष्म स्तरपर जूझना पड़ा । गद्यके लिए नये भाषा-रूपका प्रयोग करना अथवा गद्यकी भाषामें परिवर्तन करना अपेक्षाकृत आसान है, पर शताब्दियोंकी परम्पराओं कथानक-रूढ़ियों और सांस्कृतिक पद्धतियोंमें गहरे स्थित कविताकी भाषामें कोई मौलिक अन्तर उपस्थित करना संवेदनाके अन्तरतम प्रदेशोंमें संघर्ष करना है । जैसा संकेत किया गया प्रसादके व्यक्तित्वमें इस संघर्षका रूप काफी स्पष्ट दिखाई देता है ।

प्रसादका पहला काव्य-सृजन ब्रजभाषाका एक सवैया माना जाता है । फिर उनकी आरम्भिक कविताएं भी ब्रजभाषामें हैं, जिन्हें 'चित्राधार' के वर्तमान संस्करणके अन्तिम दो खण्डोंमें संकलित किया गया है । 'पराग' शीर्षक खण्डमें अपेक्षाकृत नये ढंगके विषय हैं, और छन्दोंका चुनाव भी नया है । 'मकरन्द-बिन्दु' में कवित्त-सवैयों और पदोंका संकलन है । संवेदना और शिल्प दोनों ही दृष्टियोंसे ये मुक्तक छन्द किसी सीमा तक रीतिकालीन परम्पराके अवशेष कहे जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त 'चित्राधार' के दोनों चम्पू 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' तथा दो नाटकों 'प्रायश्चित्त' और 'सज्जन' में कविताका अंश ब्रजभाषामें है । और तीन लम्बी आख्यानक कविताएं 'अयोध्याका उद्धार' 'वन-मिलन' तथा 'प्रेम-राज्य' भी ब्रजभाषामें लिखी गयी हैं । इस प्रकार गद्य अंशोंको छोड़कर 'चित्राधार'का समस्त कवितावाला अंश ब्रजभाषामें है ।

यदि इस आरम्भिक काव्य-भाषा (प्रस्तुत निबन्धमें 'काव्य-भाषा' का सीमित अर्थ 'कविताकी भाषा' लिया जा रहा है) की परीक्षा की जाये तो स्पष्ट दिखाई देता है कि इन रचनाओंमें विशुद्ध ब्रजभाषाका प्रयोग न होकर खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण किया गया है । अवश्य ही यह स्थिति सब प्रकारकी कविताओंमें एक समान नहीं है । खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण 'मकरन्द-बिन्दु' में बहुत कम है, जब कि इसका व्यापक रूप

'पराग' नामसे दिखाई देता है। खड़ीबोलीके ब्रजभाषाकरणसे तात्पर्य है, खड़ीबोलीके व्याकरण और शब्द-समूहके ढाँचेका मुख्यतः स्वीकार करते हुए बीच-बीचमें ब्रजभाषाके सम्बन्धवाचक (री) परसर्गों (सौ) तथा अव्ययों (हू) प्रभृतिका प्रयोग ब्रजभाषाका आभास देनेके लिए। (मूल भाषा रूपमें ब्रजभाषाका आभास देनेकी चेष्टा मध्ययुगमें भी हुई थी जब पूर्वी प्रदेशों, बंगाल असम और उड़ीसाके वैष्णव कवियोंने 'ब्रजबुलि'का प्रयोग किया था। पर उन कवियोंकी दृष्टि भिन्न थी। इसीलिए पद्धति भी वो ऐतिहासिक आवश्यकतासे विकसित न होनेके कारण कृत्रिम अधिक थी। अतएव 'ब्रजबुलि' एक साहित्यिक प्रचलन-भर रही।) खड़ीबोली के ब्रजभाषाकरणकी सीमित मात्राके प्रसंगमें चर्चा एक अन्य निबन्धमें कर चुका हूँ (देखें 'खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण')। पर वस्तुतः तो इस प्रणालीका उपयोग साहित्यिक क्षेत्रमें अधिक हुआ है। यह बात और स्पष्ट होती है भारतेन्दु या रत्नाकर और प्रसादकी ब्रजभाषाकी तुलनाके प्रसंगमें। भारतेन्दुके पद या सवैये और रत्नाकरका प्रायः समस्त काव्य रीतिकालीन प्रयोगोंका अनुकृत ढंगसे प्रयोग करता है – दीपककी अन्तिम तेज लौकी तरह। उनकी मूल संवेदना रीतिकालीन है, और ब्रजभाषाका रूप काफ़ी शुद्ध और परिष्कृत है। दूसरी ओर प्रसाद हैं, जिनकी ब्रजभाषा अधिकतर तत्सम संस्कृत भाषापर खड़ीबोलीके ढाँचेको स्वीकार करते हुए ब्रजभाषाका आभास देनेकी चेष्टा है, और इसीलिए उनकी संवेदना रीतिकालीन बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिए छटपटाती दिखाई देती है। स्वयं प्रसादने उस मात्रामें तत्सम शब्दोंका प्रयोग करके अपने खड़ीबोली काव्यमें नहीं किया जितना इन आरम्भिक ब्रजभाषा कविताओं-में मिलता है। एक क्रान्तिकारी कवि भाषा-बोध परम्पराका साथ किस प्रकार देता है यह खड़ीबोलीके ब्रजभाषाकरणकी स्थितिमें बड़े रोचक और सटीक ढंगसे देखा जा सकता है। ब्रजभाषाका खड़ीबोलीकरण तो सम्भव नहीं था क्योंकि विरोधी रचनाकार-द्वारा पुरानी संवेदनाको नया

रूप नहीं दिया जा सकता। पर पाठक-वर्गके लिए अपने कृतित्वको स्वीकार्य तथा ग्राह्य बनाये रखनेकी दृष्टिसे नयी संवेदनाको किंचित् पुराने आभासके साथ प्रस्तुत करना रचनाकारकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पकड़का परिचायक है। यों खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण ऐतिहासिक क्रम-विकास-की एक स्थिति भी हो सकती है, और रचनाकारकी अपनी समय दृष्टि भी और अन्ततः एक स्तरपर इन दोनोंका सामंजस्य हो जाता है।

प्रसाद-द्वारा खड़ीबोलीके ब्रजभाषाकरणमें जो भाषाके क्षेत्रमें भारतेन्दु-द्वारा उत्पन्न की गयी क्रान्तिकी परवर्ती समस्याओंसे जूझनेका एक प्रयास है, रीतिकालीन संस्कारोंकी छाप और छायावादी चेतनाके उदयके बीचका समय प्रतिफलित होता है। इस ब्रजभाषाकरणके कई स्तर हैं

१ अपेक्षाकृत विशुद्ध ब्रजभाषाका प्रयोग पर बीच-बीचमें खड़ीबोलीका मिश्रण जैसे 'मकरन्द-बिन्दु' की कविताओंमें।

२ पुरानी भाषाका ढाँचा किन्तु नयी शब्दावलीका प्रयोग — 'बभ्रुवाहन' के गीतोंमें इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं।

३ खड़ीबोलीका ढाँचा अपेक्षाकृत तत्सम शब्दावली और यत्र-तत्र ब्रजभाषाके सर्वनाम अव्यय अथवा क्रिया-रूप। यह स्थिति 'पराग' खण्डकी कविताओं लम्बी कविताओं नाटकों और चम्पूमें व्यापक रूपसे मिलती है।

स्पष्ट है कि अन्तिम दो वर्गके भाषा-प्रयोग खड़ीबोलीके ब्रजभाषाकरणके वास्तविक क्षेत्रमें आते हैं पहले वर्गमें इस प्रवृत्तिका अपेक्षया क्षीण आभास मिलता है। ब्रजभाषासे खड़ीबोलीमें संक्रान्तिका यह सजीव इतिहास है। कुछ उदाहरणोंसे यह बात और स्पष्ट हो सकेगी। बभ्रुवाहन का एक अंश है

'यौवन ऊषा प्रथम प्रखर बन दिव्य भई है।
शैशव तारालिकर मलिनता जात कई है॥

धवल राग सों रँग्यो हिमकन-पट ऐसो।
मनौ चन्द्रकर जाल तदपि सन्ध्या में सैमो ॥
हाय प्रणय स्मृति-सूर्य उदय मित हिय-नभ हावै
पूर्व राग निरधारि अलौकिक रंग संजोवै ॥"

यहाँ 'यौवन ऊषा' तथा 'प्रणय-स्मृति-सूर्य' इन दो प्रयोगोंसे ही भाषाकी मौलिक प्रकृतिको पहचाना जा सकता है। इसी रचनाका प्रारम्भिक पद्य है

'कनक मनोहर रवि मुकुलायक हिम अनुराग,
मनहुँ सुधा के सिन्धु में कपरा मलिन-पराग
नव घन सुन्दर श्याम उर मनहुँ हारकामाम,
कालिन्दी जल नील में कनक अरविन्द विकास।

उपर्युक्त चार पंक्तियोंमें केवल रेखांकित पाँच शब्द ब्रजभाषाके हैं जिनमें एककी दो आवृत्ति हुई है और इन पाँच शब्दोंके द्वारा ही पूरे छन्दका खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण किया गया है। भाषाकी यह अटपटी प्रकृति भाषा और संवेदनामें संघर्षका आभास प्रस्तुत करती है, और नवीन संवेदनाके उदयको प्रमाणित करती है।

प्रसादका आरम्भिक आख्यानक काव्य 'प्रेमपथिक' पहले ब्रजभाषामें था पर बारम प्राय आठ वर्ष बाद पुस्तकाकार प्रकाशित होते समय कविने उसे खड़ीबोली हिन्दीमें रूपान्तरित कर लिया। इस कुछ विचित्र-सी स्थितिका यदि विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट दिखाई देगा कि 'प्रेमपथिक' इसीलिए ब्रजभाषासे खड़ीबोलीमें रूपान्तरित कर दिया जाता है, क्योंकि कवि मूल कृतिके रचनात्मक संघटनसे सन्तुष्ट नहीं था। रूपान्तरणमें भाषा-के साथ-साथ संवेदना भी परिवर्तित हुई है। अब 'प्रेमपथिक' मात्र एक प्रेमी के प्रणयकी कथा न होकर प्रणयकी कल्याणकारी भूमिकी व्याख्या है। रचनाके आरम्भिक छन्दमें प्रेमका देवता प्रकट होकर कहता है

व्याकरणात्मक रूपोंकी अपेक्षा शब्द-समूह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि सांस्कृतिक तत्त्वोंका समावेश तो शब्दोंमें (नामोंमें) ही होता है, व्याकरणात्मक रूपोंमें नहीं। यह सांस्कृतिक तत्त्वका समावेश और सृजन ही काव्य-भाषाकी अपनी निजी विशेषता है, और प्रमुखतः इस शब्द-समूहकी सांस्कृतिक प्रकृतिके आधारपर ही खड़ीबोली ब्रज अवधी मैथिली और भोजपुरी एक काव्य-भाषाके विभिन्न रूप हैं भले ही उनके व्याकरणात्मक पक्षमें अन्तर हो। डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा इन बोलियोंके भेदको महाभारतकालीन जनपदोंके विभाजनसे सम्बद्ध मानते हैं। उस कालमें ये पृथक बोलियाँ संस्कृतके व्यापक रूपके अन्तर्गत थीं और आज उस तुलनामें काफी विभिन्नताएँ रखते हुए भी ये बोलियाँ हिन्दीकी काव्य-भाषाके अन्तर्गत आती हैं।

जो भी हो इतना स्पष्ट है कि ब्रजभाषाके स्थानपर खड़ीबोलीका प्रतिष्ठापन एक भाषाके स्थानपर दूसरी भाषाका प्रयोग नहीं है, वरन् काव्य-भाषाके एक आधारको दूसरे और सहयोगी रूपमें बदलना है। यह परिवर्तन संवेदनाको आमूल नहीं बदलता पर उसे एक नयी दिशामें गति-शील करता है। क्योंकि काव्य-भाषाका मूल-स्रोत वही रहनेपर भी उसके संचरणकी दिशा बदल जाती है। प्रतीकों और भावचित्रोंके रूपमें सभी काव्य-भाषाओंके ढाँचे बराबर परिवर्तित होते रहते हैं, यह एक स्वाभाविक क्रम है। पर नई बोलियोंके सहयोगसे निर्मित हिन्दीकी काव्य-भाषाका ढाँचा तो बदलता ही है, कई बार उसकी बोलियोंके आधार भी बदले हैं। इस दृष्टिसे आधुनिक कालकी काव्य-भाषाके लिए जब ब्रजभाषाके स्थानपर आधार-रूपमें खड़ीबोली प्रतिष्ठित की जाती है तो पुराने ढाँचेको स्वभावतः ध्वस्त करके उसे नये सिरेसे निर्मित किया जाता है। यह काव्य-भाषाके स्वरूपमें आन्तरिक और बाह्य दोनों स्तरोंपर परिवर्तन है जिसका आरम्भ प्रसादकी कविताओंमें देखनेको मिलता है। काव्यभाषाके लिए बोलियोंके आधारमें परिवर्तन सामान्यतः एक अनुकरणीय स्थिति है, जो

हिन्दीको छोड़कर अन्यत्र सम्भवतः न मिले।

इस मंवन्तरकी गति और दिशाको प्रसाद क्रमशः प्रतिफलित करते हैं। वे खड़ीबोलीके व्रजभाषाकरणसे आरम्भ करते हैं और धीरे-धीरे व्रजभाषाके स्थानपर खड़ीबोलीको स्थापित करते हैं। संवेदनाका गुणात्मक अन्तर पहले नये ढंगके शीर्षकों और विषय-वस्तुओंके चुनावमें दिखाई देता है फिर आन्तरिक स्तरोंपर मौलिक परिवर्तन घटित होने लगता है। अन्ततः खड़ीबोलीका अपना परिष्कृत रूप छायावादी संवेदनाके अनुकूल बन जाता है जो आधुनिक कालमें खड़ीबोलीके स्वरूप-निर्धारणका पहला महत्त्वपूर्ण चरण है। यह दूसरी बात है कि स्वयं प्रसादकी 'कामायनी' तकमें भाषाका सर्वत्र एक-जैसा सफल प्रयोग न हो। इसका कारण शायद यह हो कि कविने चिन्तनकी तुलनामें अनुभूतिको आवश्यकतासे अधिक बल दिया है। (द्रष्टव्य – प्रसादके निबन्ध काव्य और कला का अन्तिम अंश।)

प्रसाद और उनके कुछ पूर्ववर्ती कवियोंकी भाषा-विषयक दृष्टिकी तुलनासे पता चलता है कि द्विवेदीयुगीन और छायावादी कवियोंकी प्रकृतिमें कितना अन्तर है। एक ओर श्रीधर पाठक हरिऔध तथा मैथिलीशरण गुप्त हैं जिन्होंने प्रायः परिनिष्ठित खड़ीबोलीका प्रयोग किया है पर माधुर्यके पुटके लिए सजग रूपसे यत्र-तत्र 'लौं'-जैसे परसर्ग और 'लख' 'रहँ' जैसे क्रिया-रूपोंका व्यवहार किया है। दूसरी ओर प्रसाद हैं जिन्होंने आरम्भ किया खड़ीबोलीके व्रजभाषाकरणसे पर जब आगे उन्होंने खड़ीबोलीमें लिखा तो फिर वे व्रजभाषाके प्रभावसे मुक्त रहे। 'कानन कुसुम' की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। प्रसादकी भाषा और संवेदना क्रमशः रूपान्तरित हो जानेपर फिर पीछेकी ओर नहीं मुड़ती जब कि द्विवेदीयुगीन कवि अपने कृतित्वमें व्रजभाषासे आक्रान्त बने रहते हैं।

■

नयी कविताकी भाषा
समस्यापूर्ति और कथानक-रूढ़ियाँ

नयी कविताको स्थापित करनेकी आज आवश्यकता नहीं रही। विविध पत्र-पत्रिकाओं संकलनों आकाशवाणीके प्रसारणोंको देख-सुनकर कोई भी यह सहजमें अनुमान कर सकता है कि सम्प्रति हिन्दीकी प्रमुख और जीवन्त काव्य-धारा नयी कविता ही है। भले ही कृतिकारों और भावकोंका एक वर्ग इसे न माने। और या न माननेके लिए तो अभी हिन्दीमें ऐसे लोग भी मिल जायेंगे जो छायावादको भी स्वीकार नहीं कर पाते। पर प्रबुद्धोंके बीच नयी कविता स्वीकृत मान्य और प्रतिष्ठित है। किन्तु बात इतनी ही नहीं है। अब तो इस बातकी भी मज़बूरी चिन्ता हो रही है कि नयी कविताने हमें क्या दिया है और इस समय क्या दे रही है। सच तो यह है कि ऐसी चिन्ताके लिए विशेष आत्मालोचन अपेक्षित नहीं। यह एक काफ़ी स्थूल स्थिति है कि नयी कविताके अधिकांश कवि– नये और पुराने – सब चुके और बीते-से दिख रहे हैं। वे अब अपनेको ही दोहरा रहे हैं। उनमें किसी नयी दिशाका सन्धान नहीं दिखता और न उनके लिए किसी प्रकारकी आकुलता ही!

कविताकी नयी भाव-धारासे परिचित होनेपर क्या उसे तीव्र प्रायः शिल्पके माध्यमसे आता है? या यों कहें कि शिल्पके स्तरपर ही परिवर्तन हम आसानीसे परिलक्षित होता है। और यह भी सच है कि जीवन्त तत्त्वोंके समाप्त हो जानेपर कविताका अपमात्र बाह्य रूढ़ियोंमें बँधा दिखता है। रीतिकालीन और छायावादी रूढ़ियाँ इसके लिए हमारे इतिहासमें प्रमाण-

स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। काव्यकी अपनी उपलब्धि जितनी महत्त्व-
पूर्ण रही है उसी अनुपातकी व्याख्याओंमें ये कड़ियाँ फैल जाती हैं। नयी
कविताकी भी अपनी लम्बियों और कथानक-रहितोंमें प्रयत्न एक विस्तृत
आयाम हुआ दिखता है। 'ओरे ! और आज पहली बार' की सप्तकीयोंसे
लेकर 'अँजुरी भर धूप' 'चक्रव्यूह' 'धुआँ' और 'बीजोंने बीच सारे देशको
आक्रान्त कर लिया हो'। इनसे अब किसी धर्मकी प्रतीति नहीं होती 'ज्या
रों' के रूप मात्र।

कथानक-रूढ़ि समयके विकास या चुक जानेकी अन्तिम स्थिति है।
बहुत से रचनाकार कवि प्राचीन सन्दर्भ (ऐतिहासिक या मिथ) के सहारे बहुत
करते हैं। उदाहरणके लिए 'चक्रव्यूह' और 'अभिमन्यु'को लिया जा
सकता है। महाभारतसे लिये हुए ये सन्दर्भ बहुत समय तक अपने साथ
अपने सारे परिवेशको प्रस्तुत कर देते थे। वातावरणकी यह उत्कट भव्य
कभी-कभी उचित भाव-निरूपणमें बाधा उत्पन्न करती है। ऐसी स्थितिमें
इन 'सन्दर्भों'को उनके अपने व्यापक सन्दर्भसे अकाल् अलग करके उनका
प्रयोग प्रतीक रूप (बिम्बात्म) में होने लगता है। अब चक्रव्यूहसे नाम
महाभारत अर्जुन और अभिमन्यु-द्वारा मध्यवर्ती सुभद्राको चक्रव्यूहका स्वरूप
समझाना — ये सारे चित्र हमारे सामने नहीं आते। इस रूपमें चक्रव्यूह
केवल एक घिर जानेकी स्थिति है, जो स्वभावतः शारीरिकसे अधिक
मानसिक है। परिवेशोंकी कथानिर्भरतासे लिया गया कौरवोंका सन्दर्भ अपने इस
रूपमें अपूर्ण और असमर्थ विघटनका प्रतीक हो जाता है।

सन्दर्भसे प्रतीक तकका विकास निश्चय ही भाषाको समृद्ध बनाता है,
और अगर कवियोंकी व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता-द्वारा सम्भव हो
पाता है। पर प्रतीकके साथ किसी शब्द-विशेषके विकासकी दो स्थितियाँ हो
सकती हैं — या तो वह प्रतीक अपनी सम्भावनाओंको और अधिक लम्बा
हुआ एक मर्मचित्र (इमेज या इमेजरी) के रूपमें संघटित हो जाता है,
या फिर कविकी असामर्थ्य और भाव-विशृंखल प्रयोगोंके कारण यह

मात्र एक कथात्मक रूढ़ि (मोटिफ़) बन जाता है। शब्द→प्रतीक→भावचित्र या फिर शब्द→प्रतीक→कथात्मक-रूढ़ि — शब्द-शक्तिके विकासकी ये दो सम्भावित दिशाएँ हैं।

प्रतीक और भावचित्रमें प्रायः वैसा ही अन्तर है जैसा उपमा और रूपकमें होता है। उपमा सामान्यतः एक स्थितिकी ओर संकेत करती है और उसके 'डिटेल्स' को मूर्तिमान नहीं करती पर रूपक स्थितिको आरोपित करके फिर उसके विस्तृत परिवेशसे पुष्पित करता है। किन्तु भावचित्र और रूपकके बिम्बमें मौलिक अन्तर है। भावचित्र मूलतः एक क्षणमें सारी स्थिति और परिवेशको हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर देता है जब कि रूपक काफ़ी दूर तक अनेक समतुल्य स्थितियोंका वर्णन करता चलता है — विशेषतः सांगरूपक। इसीलिए रूपक एक अलंकार-मात्र है और संरचना से उतना सम्पृक्त नहीं पर भावचित्रकी गति अधिक गहरी है, और वह संरचनामें प्रत्यक्षतः उद्भूत होता है। यों कह सकते हैं कि समूचे काव्य-विधानमें भावचित्र ही केन्द्रीय तत्त्व है। किसी कविकी क्षमता अन्ततः उसके भावचित्रोंके संगठनपर ही निर्भर होती है।

प्रतीकोंकी भावचित्रोंमें परिणति ही काव्य-भाषाके बननेकी मुख्य स्थिति है। प्रतीक-रूपमें शब्दोंका प्रयोग काव्य-भाषाके बाहर भी होता है (भाषा अन्ततः है भी क्या प्रतीकोंके अतिरिक्त)। पर भावचित्रोंके माध्यमसे बात कहना कविके लिए ही सुलभ है। भाषाका सर्जनात्मक प्रयोग (क्रियेटिव यूज़) इन भावचित्रोंसे ही सम्भव हो पाता है। यह कहा जा सकता है कि सन्दर्भ रूपमें शब्दके साथ अनिवार्य रूपसे जो परिवेश जुड़ा रहता है, प्रतीककी स्थितिमें उसे ध्वस्त करके भाव-चित्रके रूपमें कवि उस शब्द-विशेषके साथ अपना इच्छित परिवेश जोड़ता है। सन्दर्भके रूपमें शब्दसमूह महाभारत प्राचीन एक ग्रन्थ-विशेष है, प्रतीक रूपमें वह मानसिक गुत्थियोंका परिचायक है और भावचित्रकी स्थितिमें वह उन गुत्थियोंके साथ उनके व्यापक परिवेशको भी ध्वनित करता है।

इस तीसरी स्थितिमें कविकी शक्ति-सामर्थ्यके अतिरिक्त पाठककी भावक शक्ति भी अपेक्षित है। क्योंकि सप्तम रूपका परिवेश तो लोकप्रचलित होता है उसे समझनेके लिए पाठकको किसी प्रकारका यत्न नहीं करना पड़ता। चक्रव्यूह और महाभारत उसके मनमें अनिवार्यतः सम्बद्ध है। पर भावचित्रकी स्थितिमें कवि जिस नये परिवेशका सृजन करता है उसे ग्रहण करनेके लिए पाठकका मन बाधित (कण्डीशण्ड) न होकर मुक्त होना चाहिए, और इसके अतिरिक्त उसमें कविके अभिप्रेत तक पहुँचनेके लिए आवश्यक यत्न भी रहना चाहिए। सारा उच्चस्तरीय काव्य इन भावचित्रोंके माध्यमसे अपनेको विवृत करता है और इसी प्रक्रियाको समझनेके लिए व्यापक भावक-वर्गकी अपेक्षा होती है।

हिन्दीकी नयी कविताने सचमुच ही प्रतीक तो बड़ी संख्यामें विकसित किये। पर फिर इन प्रतीकोंको गहरे अर्थसे सम्पृक्त कर सकनेमें वह असफल रही। इसका एक कारण तो सतत (सस्टेण्ड) सार्थक चिन्त-का अभाव अनुमानित किया जा सकता है। पर एक दूसरा कारण यह भी है कि नयी कविताने आवश्यकतासे कहीं अधिक प्रतीकोंका प्रयोग करना चाहा। प्रतीकोंकी इस भारी संख्याको उत्पन्न करना तो आसान था पर उनका पालन-पोषण करनेके लिए जिस शक्ति-सामर्थ्यकी अपेक्षा थी वह अधिकांश कवियोंमें न थी। इसीलिए अधिकतर वे इन प्रतीकोंसे खिलवाड़ करते रहे — सफल कवि भी और असफल कवि भी। अधिकतर तो ऐसा हुआ है कि पूरीकी पूरी कविता एक प्रतीकपर आधारित कर दी गयी है। इन बहुसंख्यक प्रतीकोंने नयी कविताका जितना अहित किया है उतना शायद किसी अन्य स्थितिने नहीं। वास्तविक अर्थ-सम्पृक्तिके अभावमें इनमेंसे अधिकांश प्रतीक मात्र कथानक-कड़ियाँ बनकर रह गये हैं और ऐसा लगता है कि हिन्दी कवितामें ढेरके ढेर चक्रव्यूह भारतीके ठिकाने खींचे हुए हिमालय और न जाने क्या-क्या दूब उगाए गये हैं। यह समुचित 'फीलिंग' का अभाव है

और अब तो मार्क्सके नियमके लागू होनेकी प्रतीक्षा है। 'फ़ॉर्मिज़्म' की मन:स्थिति कविकी अपेक्षा समीक्षककी अधिक हो सकती है और इसी अनुपातमें दोष दोनोंमें बाँट दिया जा सकता है। पर कठिनाई यह है कि हिन्दीमें कवि-कलाकार तो बहुत हैं पर व्यवस्थित समीक्षाका अभाव है।

नयी कविताने शैली और गतिका आभास देनेवाले अधिकतर ये प्रतीक ही रखे हैं इससे इनकार नहीं हो सकता। ये प्रतीक कविताके क्षेत्रमें 'एक्टिविटी' होनेके सूचक थे। यदि इनमें-से कुछको भी भावचित्रके रूपमें संक्रान्त किया जा सकता तो आज स्थिति ऐसी न होती। पर इन प्रतीकोंके विस्फोटमें कवि अपनी दिशा भूल गये। प्रायः भारतेन्दुकालीन समस्या-पूर्तिके स्तरपर प्रतीकोंका प्रयोग होता रहा। 'मुश्किल' प्रतीकोंके निर्वाहमें नया कवि अपनी सफलताका दावा कर लेता है ठीक वैसे ही जैसे परवर्ती ब्रजभाषा कवि 'पावक पुंज में पंकज फूल्यो' समस्याकी पूर्तिमें अपना कवि-कर्म सफल हुआ मान लेते थे। मध्यवर्गीय और निम्नमध्यवर्गीय जीवनसे नये-नये प्रतीकोंको कसा गया — सीधे उपरैल पानी भरी और न जाने क्या-क्या। पर यह बोध इन कवियोंको न रहा कि आखिर इन प्रतीकोंका क्या व्यापक उपयोग वे कर रहे हैं।

इन बहुसंख्यक लावारिस प्रतीकोंके होनेका एक अन्य कारण आन्तरिक निष्ठाका अभाव मैंने कहा है। कविकी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और क्षमता बहुत सीमा तक उसकी अनुवर्ती नहीं होती यह कहा जाता है। पर अनुभवके कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिन्हें समृद्ध किया जा सकता है, कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जिनकी ओर अधिक ध्यान देनेसे गुणात्मक अन्तर होना सम्भव है। उदाहरणके लिए औसतन रूपसे यह कहा जा सकता है कि हमारे नये कवियोंमें-से अधिकांश अपने दृष्टिकोणमें 'विशुद्ध' कवि हैं। साहित्यके अन्य रूपों और ज्ञानके दूसरे क्षेत्रोंसे वे प्रायः ही उदासीन हैं। यह सही है कि प्रायः सभी साहित्योंमें कविताकी मौलिक और केन्द्रीय

स्थिति रही है पर आजकी परिवर्तित स्थितियोंमें कविता-मात्रसे पूरा नहीं पड़ सकता और न केवल साहित्यके अध्ययन-परिशीलनसे व्यक्तित्वको सम्पूर्ण बनाये रखा जा सकता है। जबतक अन्य कला-रूपों सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानोंसे जीवित सम्पर्क न रखा जायेगा तबतक आजकी कवितामें प्राण-शक्ति लाना कठिन है। विशुद्ध कवि और विशुद्ध कविताका युग अब नहीं रहा। हीन व्यक्तित्वसे उत्कृष्ट काव्यका सृजन सम्भव नहीं। व्यक्तित्वके विभिन्न अंगोंका अन्य अनुभव-क्षेत्रोंसे पुष्ट और संवर्द्धित किये बिना आन्तरिक निष्ठा उत्पन्न नहीं हो सकती। इसका कमसे कम एक प्रमाण यह दिया जा सकता है कि आजके युगके प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कलाकारोंने एकसे अधिक विधाओंमें साहित्य सर्जन किया है, और बहुतोंने अभिव्यक्तिके माध्यमके रूपमें साहित्येतर माध्यम भी अपनाये हैं। सार्त्र कामू कोस्लर, पास्तरनाक लारेन्स डरेल लेस्टर, बर्नेय — एकके बाद एक नाम सोचे जा सकते हैं जिनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक ही माध्यममें बँध नहीं सका है। आज जब कलात्मक और वैज्ञानिक संस्कृतियोंके सामंजस्यकी बात सोची जा रही है, आज कविताका दृष्टिकोण हमारे पिछड़ेपनको दूर तो नहीं ही कर सकेगा और अधिक बढ़ायेगा।

ऊपर भाषाकी सर्जनात्मक शक्तिकी चर्चा मैंने की है, और कुछ एक काव्योंको देखना चाहा है, जिनसे उसका रूप अक्षित नहीं हो पाता है। पर सामान्य भाषा-प्रयोगोंमें भी हमारी उपेक्षा कुछ कम नहीं है। सच तो यह है कि हम अपनी भाषाके प्रति अभीतक सचेत नहीं हैं हम अभीतक बहुत कुछ उसी युगमें हैं जब भाषाको भावोंकी वाहिनी और अनुगामिनी माना जाता था। अब इस स्थितिकी अवहेलना होगा — विशेषतः अभी कविताके युगमें जब गद्य और कविताके बीचका अन्तर कुछ छन्द और अन्त्य तुकका भी न होकर मुख्यतः भाषा-प्रयोग-विधिका है। जबतक भाषाका सावधानीपूर्वक प्रयोग न होगा हम भावोंकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं-

को उद्घाटित करनेमें असमर्थ रहेंगे। मैं तो यहाँतक मानता हूँ कि काफ़ी दूर तक भाषा हमारी संवेदनाको नियमित और अनुशासित करती है। भाषाके इस अतिरिक्त आयामको समझे बिना हम अपनी रचना-प्रक्रिया को गतिशील नहीं बना सकते।

सामान्य भाषा-प्रयोगोंमें सावधानी कैसे बरती जा सकती है इसका एक स्थूल उदाहरण दे रहा हूँ। हमारी भाषामें शब्दोंके पर्याय बहुत अधिक हैं – तत्सम रूपोंमें भी और तद्भव रूपोंमें भी। भोजनके लिए अन्न, ओदन दूध, भात कई प्रकारके पर्याय हैं। निश्चय ही संस्कृतमें इनके प्रयोगोंके अर्थमें यथायथ अन्तर है। पर आज हम उसे विस्मृत कर चुके हैं। ऐसी स्थितिमें भी तो ये पर्याय हमारे लिए व्यर्थ हैं क्योंकि शुद्ध और सुर-सहित इन पर्यायोंका प्रयोग हो सकता था और उसकी आज हमें आवश्यकता नहीं। और या फिर इन प्रयोगोंमें हम फिरसे अपनी नयी छायाएँ उत्पन्न करना है। यह तो बड़ी सामान्य भाषा-चेतना है, जो अभी हमारे अन्दर विकसित नहीं हुई है। और यह भी सही है कि इस आधारभूत भाषा-चेतनाके अभावमें हम भाषाके गहरे सर्जनात्मक शक्तिस्रोतों का भी नहीं समझ सकते। इसलिए दुष्प्रयोग दूसरे भी करती है और निरालाके परवर्ती कल्पनाको भी पूरा करता है। एक ओर भाषाके सामान्य और सर्जनात्मक स्तरोंको अर्थमंडित और पुनर्संयोजित करता है और दूसरी ओर काव्य अभिव्यक्तिको अधिक शुद्ध समृद्ध और आधुनिक बनाता है। सभी नयी कविता (या शायद अब इसे किसी और नामसे पुकारा जाने लगे नामका मोह ही क्या!) इस वर्तमान भाषागत-संकटसे मुक्त होकर अपनी सशक्त सम्भावनाओंको उपलब्ध कर सकेगा।

■

नयी कविताका पाठ

कविताके मुद्रित रूपसे काफी दिनों तक परिचित रहनेके बाद अब हमें भान होने लगा है कि यह माध्यम सम्प्रेषणीयताके बहुत उपयुक्त नहीं। विशेष रूपसे नयी कविताके सम्बन्धमें यह तथ्य और भी सच लगता है जहाँ छन्द तुक आदिके बन्धनसे मुक्त होकर कविता एक विशेष प्रकार की लयपर आधारित है। कवि और पाठकके बीचका कमसे कम व्यवधान मौखिक-साहित्य पाठमें ही सम्भव है। नयी कविताके मुद्रित रूपमें अनेक प्रकारके विराम तथा उच्चारण-चिह्नोंको देखकर कुछ पाठक खीज जाते हैं। प्रश्नवाचक और विस्मयादिबोधक चिह्नोंके अतिरिक्त उन्हें स्थान-स्थानपर खाली पंक्तियों या भावबिन्दुओंकी कतार भी दिखाई देती है। वे इसे प्रायः कविका तौर-तरीका मान लेते हैं। पर वस्तुतः इस प्रकारके सारे चिह्न इसलिए लगाये जाते हैं कि नयी कविताका लेखक उसकी पाठविधिके लिए अत्यन्त सतर्क रहता है। नयी कविताकी बहुत-सी व्यंजना शब्दके साथ-साथ कण्ठमें भी है।

छायावादोत्तर कालमें कविता-पाठका एक विशेष ढंग विकसित हुआ था। पर कविता-पाठका यह रूप भावात्मक ढंगसे सरल संगीतपर आश्रित रहा। पाठ-विधिकी इस शैलीमें कुछ गीत तो अवश्य चमत्कृत हो जाते थे। पर धीरे-धीरे मिथ्या अनुकरणकी प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई। बिना किसी वास्तविक प्रेरणाके लिखे गये गीत केवल 'सस्वर' पढ़े (या गाये) जानेके कारण जनतामें लोकप्रिय हो चले। यह पद्धति निश्चय ही काव्यकी आस्वादात्मक प्रक्रियाके लिए खतरनाक थी। पर लोक-रुचिके परिष्कारके साथ-साथ हिन्दी कविता-पाठका यह कवि-सम्मेलनी ढंग अपने-आप ही

मूल संवेदनाको व्यक्त करता है। संकोच द्विविधा भय मान अनुराग — न जाने कितने भाव इस विरामसे व्यक्त होते हैं। रचनाकी यह सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट उसके भव्य रूपमें ही प्रकट हो सकती है। शमशेरकी दूसरी कविता-की 'पेरेन्थीसिस' की भी ऐसी ही स्थिति है। यह चौथी पंक्ति कविताके सारे प्रवाहको रोककर अपनी भावात्मक सत्ता स्थापित करती है।

विदेशोंमें कविताकी पाठ-विधिके महत्त्वको अधिकाधिक समझा जा रहा है। इसमें 'टेक्नालजी' के विकासने भी उन्हें सहायता मिली है। इसलिए यूरोप तथा अमेरिकाके बहुत-से कवियोंकी रचनाएँ उनकी अपनी पाठ-विधिमें अंकित कर ली गयी हैं। इस प्रकारके 'लांग प्ले रिकार्ड्स' तथा टेप वहाँ व्यावसायिक स्तरपर उपलब्ध हैं और पुस्तकालयोंके अति-रिक्त सामान्य व्यक्तियोंके पास उनके अच्छे संग्रह देखे जा सकते हैं। कभी-कभी किसी कविकी रचनाका अपना पाठ उतना अच्छा नहीं माना जाता जितना किसी दूसरे व्यक्ति-द्वारा उसकी रचनाका पाठ। टी० एस० ईलियटकी स्थिति कुछ इसी प्रकारकी है। हिन्दीमें कविता-पाठके ध्वन्यांकन अभी सामान्यतः उपलब्ध नहीं हैं। आकाशवाणी-जैसी संस्थामें अवश्य कुछ विशिष्ट लोगोंके लिये संग्रहोंमें चुने हुए कवियोंकी रचनाएँ ध्वन्यांकित रूपमें मिल सकती हैं। पर 'टेक्नालजी' के विकासके साथ-साथ धीरे-धीरे यूरोप-जैसी स्थिति हमारे देशमें भी हो सकेगी।

हिन्दीके नये कवियोंकी छोटी-छोटी गोष्ठियों तथा किसी हद तक आकाशवाणीके माध्यमसे नयी कविताकी पाठ-विधिने लोगोंका ध्यान अधिक आकर्षित किया है। प्रयोगवाद-द्वारा प्रवर्तित कविता-पाठकी पद्धति नयी कविताके तत्त्वावधानमें और भी विकसित हुई। अधिकांश नये कवियोंकी अपनी-अपनी पाठ-विधियाँ हैं, ठीक उनकी शैलीकी तरह। शायद रचना-के आन्तरिक गठनके स्तरपर उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीके काव्य-पाठकी सुकुमारता सर्वेश्वरकी गुरु-गम्भीरता भवानीका ओज तथा रघुवीर सहायका तरल अबाध प्रवाह उनकी अपनी रचना-शैलीके

अनुकूल ही है। यहाँ पाठ ऊपरसे आरोपित न होकर काव्य-व्यक्तित्वका अभिन्न अंग है।

मानवीय भाषाका सबसे सम्पन्न रूप उसका श्रव्य-दृश्य रूप है जहाँ वक्ता अपनी सारी भाव-भंगिमाके साथ सुना और देखा जा सकता है। इसका स्थानापन्न केवल मौखिक रूप हो सकता है, जैसे रेडियो रेकॉर्ड आदि। पर अपने मुद्रित रूपमें तो भाषा सबसे अधिक विकलांग हो जाती है यद्यपि विश्व-साहित्यका अधिकांश इसी माध्यमसे सुलभ है। पर यह नहीं है कि आधुनिक युगने साहित्यके मौखिक रूपका महत्त्व समझा है और आल्डुअस हक्सले-जैसे विद्वान् भविष्यके साहित्यको टेपके संग्रहालयों-के रूपमें देखते हैं। हिन्दीके नये साहित्यमें भी भाषाके मौखिक रूपको विशेष महत्ता मिली है। कविता ही नहीं कथा-साहित्यमें भी भाषाके मौखिक रूपको यथासाध्य सुरक्षित रखनेका यत्न किया जा रहा है। नयी कविताका लेखक तो विशेष रूपसे अपनी रचना कवि या पाठक-द्वारा पढ़े जानेके लिए लिखता है मुद्रित पुस्तकमें केवल देखने-पढ़ लेनेके लिए नहीं।

पर भाषाके श्रव्य-रूपको पुनः प्रतिष्ठा मिलनेसे नयी कविताके लिए कई खतरे भी उत्पन्न हो गये हैं। कवितामें अधिक पाठ-विधिको महत्त्व मिलनेके कारण यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। एक सामान्य दर्द भरे-म डालकर देखनाका मिथ्या आभास कराना उतना ही असत्य तरीका है जितना केवल स्वरके आकर्षक आरोह-अवरोहके सहारे अर्थहीन शब्दोंको पेश करना। कभी-कभी कवितामें आवश्यक संवेदनकी कमीकी पूर्तिके लिए भी पाठका उपयोग किया जाता है। पाठ-विधिका यह रूप रचनाके मुद्रित होनेपर उसमें विराम चिह्नोंकी बहुलता तथा जटिलतामें प्रकट होता है जिनमें पाठकका उलझना और खीज उठना स्वाभाविक है। नयी कविताको इन दोनों ही खतरोंसे मुक्त होना है। जैसे संगीतके उप-करणोंके सहारे गायी जानेवाली कविताकी तुलनामें नयी कविता काव्यके निपुणतम रूपको सुरक्षित रखनेका प्रयास है।

■

नयी कहानी और सरल भाषाका आग्रह

कहानीका माध्यम (एकांकीके समान) नयी संवेदनाको ग्रहण करनेमें सक्षम नहीं यह स्थिति प्रायः सभी उन्नत साहित्योंमें देखी जा सकती है। कहानी मूलतः लोकप्रिय रूप है और बहुत ही कम कहानीकार इस लोकप्रियताके स्तरसे ऊपर उठकर कोई नयी दृष्टि दे सके हैं। यों दृष्टिका अभाव कहानीकी अपनी आन्तरिक गठनमें स्वभावतः निहित है, क्योंकि उसका मूल उद्देश्य मानव जीवनकी किसी एक परिस्थितिको अपेक्षया चमत्कृत ढंगसे आलोकित करना रहा है। यही कारण है जिससे कहानी कारकी रचना-वृत्ति स्फुट रहती है और किसी विशिष्ट दृष्टिकी उससे अपेक्षा नहीं की जाती। आधुनिक साहित्यके परिवेशमें विशुद्ध कहानीकारोंका प्रवेश इसीलिए कठिन है। ओ हेनरी साकी या कैथरीन मैन्स फ़ील्ड-जैसे समर्थ और मात्र कहानीलेखक ईलियट सार्त्र कामु, काफ़्के जीद या पास्तरनाकके सामने नहीं ठहरते। और सार्त्र प्रभृति लेखक भी युग संवेदनाको ग्रहण करते हैं कविता उपन्यास अथवा नाटकके माध्यमसे। या तो उन्होंने कहानियाँ लिखी नहीं और यदि लिखी भी हैं तो वे उनके व्यक्तित्वकी महत्त्वपूर्ण अंग नहीं बन पायीं।

इस सन्दर्भमें हिन्दीकी 'नयी कहानी'की स्थिति तो सचमुच ही दयनीय हो गयी है। यह नयी कहानी अपनी प्रकृतिमें अपने सारे चमत्कार पूर्ण शिल्प-प्रयोगोंके बावजूद प्रेमचन्दसे भी पीछे चली गयी है। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कहानीको जो नया मोड़ जैनेन्द्र और अज्ञेय (पत्नी जाह्नवी रोज) के हाथोंसे मिला उसे भी परवर्ती कथाकारकी पीढ़ी नहीं सम्भाल सकी। विकासकी धारा (?) उलटी दिशामें प्रवाहित होने लगी

और दो-एक अपवादोंको छोड़कर दो ही एक नये कहानीकार जैनेन्द्र और अज्ञेयको छोड़कर प्रेमचन्दसे भी कैसे पीछे चले गये।।

नये साहित्यकी प्रवृत्तियोंके विश्लेषणसे पता चलता है कि आधुनिक कृतित्वमें 'नयी कहानी' नयी कविताके समकक्ष न होकर छायावादोत्तर गीतोंके समतुल्य है। वस्तुतः नयी कविता और नयी कहानीने समसामयिक हिन्दीमें युग्मको दो विरोधी दिशाओंमें खींचा है। नये कहानीकारों और गीतकारोंकी कई मौलिक वृत्तियाँ एक-जैसी हैं। उदाहरणार्थ दोनों अपनी प्रकृतिमें अलौकिक हैं, दोनोंके समक्ष लोकप्रियताका ही मान्य सबसे प्रमुख है और अन्ततः यह कि दोनोंकी ही भाषा-प्रयोग-विधि एक-जैसी है। नये कहानीकार और गीतकार दोनों सरल भाषा और अभिव्यक्तिकी सादगीपर बल देते हैं। इस अन्तिम स्थितिको लेकर विशेषतः नये कहानीकार प्रेमचन्दकी चर्चा आदर्श रूपमें करते दिखते हैं।

सरल भाषाकी बात करना आज बहुत सरल हो गया है। पर भाषा-की इस 'सरलता' और 'कठिनता' के दो स्तर होते हैं इसे अधिकांश इस वर्गके लेखक नहीं समझ पाते। भाषा सरल या कठिन शब्द-चयनके कारण हो सकती है। छायावादी काव्य-भाषा कठिन मानी जाती थी अप्रचलित और कोशगामी शब्दोंके प्रयोगके कारण। प्रगतिवाद और प्रयोगवादके उन्नायकोंने इस स्थितिका विरोध किया और उन्होंने बोल-चालकी भाषाको प्रयुक्त करनेका आग्रह किया। पर भाषाके सरल और कठिन होनेका एक स्तर और होता है, जो अधिक तात्त्विक है, जहाँ काव्य-भाषा बोल-चालकी भाषाकी तुलनामें सदैव कठिन होगी। बोल-चालकी भाषा एक बात है और काव्य-भाषामें बोल-चालके शब्दोंका प्रयोग दूसरी बात है। केवल बोल-चालकी भाषामें निर्मित साहित्य लोक-साहित्य होगा क्योंकि लोकगीत और लोककथा दोनोंमें भाषाका सामान्य प्रयोग होता है। पर शिष्ट साहित्य भाषाके सृजनात्मक (क्रिएटिव) रूपका प्रयोग करता है। इस सृजनात्मक रूपमें लेखक प्रतीक और बिम्ब-विधानके

माध्यमसे अपनी बात कहता है, और यहीं उसकी भाषा सामान्य भाषाकी तुलनामें कठिन हो जाती है।

बहुत-से लेखक इस अन्तरको न समझनेके कारण सरल भाषाका नारा लगाते-लगाते उस बोल-चालकी भाषाका प्रयोग करने लगते हैं जिसपर काव्य-भाषा या साहित्यिक भाषा आधारित तो हो सकती है पर वो अपने-आपमें काव्य भाषा नहीं बन सकती। एक प्रकारसे सारा स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य प्रयत्नपूर्वक ऐसी काव्य-भाषाका प्रयोग करता दिखाई देता है जिसकी आधारभूत भाषा बोल-चालकी है, न कि कोशों की। बच्चन और भगवतीचरण वर्माके प्रयत्न इस प्रसंगमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं यद्यपि बच्चन भी आगे चलकर सरल भाषाके उस भ्रमजालमें पड़ जाते हैं जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। अज्ञेयकी कविताने इस बोल-चालकी भाषाको अपना आधार बनाया। पर इसकी काव्य-भाषा (गद्य और कविता दोनोंकी भाषा) का साधारण भाषाके ऊपर विकसित करनेका काम नवलेखनके कुछ रचनाकारोंने किया। रघुवीरसहाय और विपिन अग्रवाल सामान्य बोल-चालकी भाषाका ही सृजनात्मक प्रयोग करते हैं, और जटिलसे जटिल तथा सूक्ष्मसे सूक्ष्म परिस्थितिका अंकन करनेमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। क्योंकि सरल शब्द होनेपर भी उनका बिम्ब-विधान सूक्ष्म है। नये कहानीकारों और गीतकारोंको आधुनिक जीवनकी इन जटिल और सूक्ष्म परिस्थितियोंका बोध नहीं इसीलिए उनकी सरल भाषा और अभिव्यक्तिकी सामग्री लोकगीतों-जैसी है। सृजनात्मक भाषाका प्रयोग न करनेके कारण गीतकारोंकी रचनाएँ लोकगीतों और फिल्मी गानोंकी तरह गाकर भले जानेपर ही आकृष्ट करती हैं। मुद्रित रूपमें वे दोनों प्रकारके गीत अपना प्रभाव खो बैठते हैं।

नये कहानीकारोंमें-से अधिकांशने अपना कथानक आंचलिक क्षेत्रोंसे चुने हैं। भाषा-प्रयोग-विधिके बाद यह दूसरा तत्त्व है जो उन्हें लोक साहित्यके ओर निकट ले आता है। रेणुके 'मैला आँचल' की अद्वितीय

सफलतासे वे कहानीकार ऐसे अभिभूत हुए कि वे यह भी नहीं सोच सके कि अपनी प्रकृतिसे ही उपन्यास तो आंचलिक हो सकता है पर आंचलिक कहानी नहीं हो सकती। आंचलिक तत्त्वका भाव यह है कि एक पूरेके पूरे अंचलका जीवन किसी रचनाका उपजीव्य हो सके उसमें ऊपर उभर कर आया यह आंचलिक जीवन स्वभावतः उपन्यासमें चित्रित हो सकता है, कहानियोंमें नहीं। पर बहुत-कुछ अपनी अलौकिक वृत्तिके अनुकूल ही नये कहानीकारोंने इस बातको भी नहीं पकड़ा और आँख मींचकर धड़ाधड़ आंचलिक कहानियाँ तैयार की जाने लगीं। इस तरह यह नये युगका कथा-साहित्य जिसके लेखकका भाव अब पहलेकी तरह अप्रकट नहीं है अपनी अलौकिक वृत्ति बोल-चालकी भाषाके प्रयोग और अलंकारप्रियताके माध्यमके साथ आंचलिक जीवनकी ओर मुड़ गया और इससे उसके स्वरूपकी अभिव्यक्ति पूरी ही हुई। शायद यही उसकी नियति थी।

सरल भाषाके बलपर प्रेमचन्दका नाम अपनी स्थितिको पुष्ट करनेके लिए बराबर लेते रहते हैं। यह स्वीकार करना होगा कि मुन्शी प्रेमचन्द की सफलताका रहस्य समझना आसान नहीं। नितान्त समसामयिक परिस्थिति और सरल भाषाके साथ वे इतना ऊँचे उठ सके इसका भेद जान पाना बड़े समीक्षकोंके लिए भी सरल नहीं। प्रस्तुत सन्दर्भमें होनेके कारण दूसरी स्थितिका ही एक संक्षिप्त विवेचन यहाँ करना चाहूँगा।

इस बातकी ओर मैंने कई प्रसंगोंमें संकेत किया है कि हिन्दी और उर्दूकी काव्य-भाषाके मिजाजमें अन्तर है। हिन्दीकी कविता प्रमुखतः व्यंजनापर आधारित रहती है, जब कि उर्दू शायरीमें विशेष बल 'साफ-गोई' पर, भाषाकी सफाई और सरलतापर दिया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि दरबारकी और साहित्यकी भाषा बननेके पूर्व उर्दू बाजार की भाषा रही थी। दरबारी शैलीकी चमत्कारिता उत्पन्न करनेके लिए भी भाषाके जिस रूपको आधार बनाया गया वह नाजनखरों और अनेक प्रकारके बारीकियोंकी बोली थी जिनकी पंक्तियोंमें बोली जाने

थामी — बाजाको गुमाँ है कि हम अहले ज़बाँ हैं हिन्दी नहीं देखो जबाँदाँ भी कहाँ है ?' बाजार और दरबार दोनोंकी भाषा एक साथ ही होनेके कारण उर्दूका मिज़ाज एक खास तरहका है जिसमें व्यंजनाकी वैसी आवश्यकता नहीं जैसी हिन्दी आदि अन्य भाषाओंमें साधारणतः होती है। उर्दूकी काव्य-भाषाकी यह स्थिति बहुत कुछ अतुलनीय है।

मुन्शी प्रेमचन्दने मुख्यतः इस उर्दूकी काव्य-भाषाका ही प्रयोग किया है। उर्दूसे हिन्दीमें आनेपर भी वे अपनी एक अलङ्कृत काव्य-भाषा अपने साथ लेते आये ऐसी काव्य भाषा जो व्यंजनाकी अपेक्षा सादगी और सरलता अधिक पसन्द करती है। पर काव्य-भाषाका मूल स्वर, मुहावरा (मुहाविरे नहीं) उर्दूका होनेपर भी मुन्शीजीके कथा-अभिप्राय ठेठ हिन्दीके थे। इस मानेमें प्रेमचन्दकी बड़ी अद्वितीय स्थिति है। अपने जिन्हीं ग्रन्थोंके लिए मुन्शी साहब उर्दूके लेखक माने जाते हैं जिनके आधारपर वे हिन्दीके सबसे बड़े कथाकारोंमें हैं। अपने एक ही 'सेवासदन'के कारण वे हिन्दीके भी लेखक हैं और उर्दूके भी। कारण ? उनकी काव्य-भाषाका मिज़ाज मुख्य उर्दूका है और उनके अभिप्राय हिन्दीके।

तो प्रेमचन्दके आदर्शपर सरल भाषाकी दुहाई हिन्दीमें नहीं दी जा सकती। वैसी व्यंजना-विहीन भाषाका उन्होंने प्रयोग किया है वह हिन्दीकी अपनी काव्य-भाषा नहीं है। हिन्दीके नये कहानीकारोंने प्रेमचन्दके ग्रामीण जीवनकी 'आंचलिकता' न एक नुमाइशी ढंगसे अन्त किया और बोल-चालकी सहज-सादी भाषा स्वीकार की। पर विकासके इस क्रममें प्रेमचन्द के पीछे किशोरीलाल गोस्वामी या रतननाथ सरशारकी तरफ जाना था न कि उनके आगे जैनेन्द्र और अज्ञेयकी ओर। इस प्रकार गीतकारोंके साथ-साथ इन नये कहानीकारोंने भी अपने-आपको जटिल [illegible] अलग रखा है।

आंचलिक जीवनकी ओर उन्मुख इन नयी कहानीके अलावा एक और प्रकारकी भी नयी कहानी हिन्दीमें है। आंचलिकके बजाय इसे 'शहरी

कहानी कहा जा सकता है। कहानीके इस रूपमें नयी चीजोंका उल्लेख करके नया हो जानेकी प्रवृत्ति दीख पड़ती है। काफे कॉफी और काबरेके माध्यमसे विकसित होनेवाली इस नयी कहानीका विकास कलकत्ता बम्बई और दिल्ली-जैसे महानगरोंमें हुआ है। स्पष्ट ही इस स्वच्छन्दवादत्व ढंगसे नया अथवा आधुनिक नहीं हुआ जा सकता। इस वर्गकी कहानियोंमें मर्डेगू और पुष्पिकाके विरोधमें पात्राके बड़े सुन्दर-सुन्दर नाम रखे जाते हैं और वैसे ही सुन्दर दृश्योंकी आयोजना होती है — पहाड़ी प्रदेश चाँदनी रात सितार कॉफीका प्याला बीथोवेनका संगीत — और इस सबके बीचमें मन्मथ नामक नायक और चाँदनी नाम्नी नायिका। यह कहानी अपनी प्रवृत्तिमें कितनी खोखली है इसकी तो चर्चा करना भी पाठकोंके प्रति अन्याय होगा।

पर फिर भी नयी कहानी विकसित भले ही न हुई हो पनप जरूर रही है जैसा कि बहुसंख्यक सम्भ्रान्त कहानी पत्रिकाओंके पृष्ठोंमें देखा जा सकता है। और किसी हद तक इस पनपनेके कारण भी उसका विकास अवरुद्ध हो गया है। यहाँ रेलवे स्टालकी पत्रिकाओंकी बात मैं नहीं कह रहा हूँ। इस पनपनेका मुख्य कारण है कहानीके माध्यमका आजकी व्यावसायिक वृत्तिसे सम्बद्ध हो जाना। संवेदनाके स्तरपर कहानी नये युगसे अपनेको सम्पृक्त न कर सकी। पर युगकी इस बाह्य वृत्तिसे उसका खासा मेल बैठ गया। कहानीके मूलमें मनोरंजनका भाव पहलेसे ही था इस मनोरंजनकी सम्भावनाका उपयोग वर्तमान उद्योग-व्यवसायके युगने पूरा-पूरा किया है। कहानी पत्रिकाओंकी बढ़ती हुई संख्या इसका जीवित प्रमाण है। पर प्रश्न यह है कि क्या कहानीके माध्यमका यह साहित्येतर प्रयोग उचित है? ऐसा नहीं कि साहित्यिक कृतित्वका साहित्येतर उद्देश्योंसे प्रयोग न होता हो! रेडियो सिनेमा टेलिविजनमें साहित्यिक तत्त्वोंका उपयोग अपेक्षया हल्के-फुल्के ढंगसे ही किया जाता है। क्या कहानीके माध्यमको भी हमें इस मुहीम जोड़ देना होगा? कहानीको नये युगकी

संवेदनाको निष्पन्न करनेके यत्न किसी साहित्यके अतिरिक्त क्षेत्रोंमें भी हुए हैं । रघुवीरसहायकी कहानियाँ ('सीढ़ियोंपर धूपमें संकलित) अथवा मनोहरश्याम जोशी और प्रभाकर माचवेके प्रयोग अपने-आपमें वैसे ही महत्त्वपूर्ण हैं जैसी कि 'पेरिस रिव्यू' के अंकोंमें प्रकाशित कहानियाँ प्राय होती हैं । मुख्य बात यह है कि अच्छी कहानीके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है ? व्यावसायिक ढंगकी कहानियोंको साहित्यिक मान लेनेमें ही कठिनाई उत्पन्न होती है । कहानीका एक पक्ष जो उद्योग-धन्धेके रूपमें परिणत हो गया है अपनी जगह ठीक है उसमें किसीको आपत्ति ही क्या हो सकती है ? पर कहानीका जितना जो कुछ अंश साहित्यके क्षेत्रमें आता है उसकी प्रकृतिके सम्बन्धमें तो हम विचारशील और सतर्क रहना चाहिए । स्टालवाली कहानी उपभोगकी वस्तु है वह हमारे विचार-क्षेत्रमें उतनी ही आती है या नहीं आती जितनी कि सिनेमा या आकाशवाणी । पर अपने मूल रूपमें कहानी कमसे कम अभीतक तो साहित्य ही है और रहेगी भी शायद पर इस दृष्टिसे उसे हमारी समूची साहित्यिक संवेदनाका अंग होना चाहिए । यह नहीं हो सकता कि कविता एक ढंगसे लिखी जाये कहानी दूसरे ढंगसे और नाटक तीसरे ढंगसे । माध्यमगत अन्तर रहते हुए भी सभी रूपोंकी मौलिक संवेदना एक हो यही तो काम्य है और उचित भी ।

■

अतीतके उपयोग
कथा-प्रसंग और प्रतीकोंके क्षेत्रमें

साहित्यिक विषयोंसे सम्बद्ध परिसंवाद तात्कालिक दृष्टिसे तो विचारोत्तेजक होते ही हैं, पर कभी-कभी उनकी समाप्तिके बाद भी विचारोंकी शृंखला टूटती नहीं। ऐसे दो परिसंवादोंकी चर्चा यहाँ है जो औपचारिक रूपमें समाप्त हो जानेपर भी मानो असमाप्त ही बने रहे। एक परिसंवाद 'नाट्य केन्द्र' के तत्त्वावधानमें था और दूसरा 'परिमल'-द्वारा आयोजित था। दोनोंके विचारणीय विषयोंमें एक स्तरपर अनायास ही समानता थी। अतीतकी सांस्कृतिक संपदाओंका वर्तमानमें साहित्य तथा रंगमंचके लिए किस प्रकार उपयोग किया जाये मुख्य समस्या दोनों जगह यही थी। 'नाट्य केन्द्र' में इसका रूप प्राचीन नाटकोंके रूपान्तरणको लेकर था 'परिमल' में विचारका विषय था आधुनिक कविताओंमें पौराणिक प्रतीकोंका प्रयोग।

'नाट्य केन्द्र' में अपने प्रथम 'मिट्टीकी गाड़ी'के प्रसंगमें एक विवाद आमन्त्रित किया था। जैसा कि इस प्रकारके सम्मिलनोंमें प्रायः होता है, बात मुख्य विषयसे किंचित् हटकर इसपर आ गयी कि 'मिट्टीकी गाड़ी' के प्रस्तुत नाटकका वास्तविक लेखक कौन है शूद्रक अथवा सम्पादन मिश्रा जिन्होंने केन्द्रके लिए इस नाट्यकृतिका आलेख तैयार किया था। दूसरा पक्ष था कि 'नाट्य केन्द्र' द्वारा प्रदर्शित रूप समग्रतः रूपान्तर द्वारा प्रणीत था जिसमें मौलिक अंश गौणतः उपयोग भर किया था। इसके विपरीत दूसरे मतके अनुसार नाटक तो शूद्रकका ही रहा केवल रंगमंचकी युक्ति बाधाओंको ध्यानमें रखकर उसका रूपान्तर कर लिया गया था पर इस

पर्याप्त सूझ-बूझके साथ बिना कोई व्यवधान किये ही नाटककी सम्भावनाको अभि-
व्यक्त कर सकती है। यह दूसरी बात है कि इस पद्धतिका प्रयोग सभी
विदेशी नाटकोंमें सफलतापूर्वक न किया जा सके। आर्थर मिलर का 'डेथ
ऑव ए सेल्समैन' किसी मंचपर इस तरह अभिनीत हो सकता है कि
उसके अभिनयकी संवेदना नितान्त स्थानीय उपकरणोंसे उसकी उसके
कारण भाषा और वातावरणसे इतनी अधिक सम्पृक्त है कि इससे उसे
अलग नहीं किया जा सकता। पर, रूपान्तर चाहे संस्कृत नाटकका हो
चाहे किसी विदेशी नाटकका यदि उत्तम है तो मूल रचनाका पुनर्सृजन ही
है जो अगत्या होनेपर नयी कृति अवश्य हो सकता है। पर प्रश्न यह है
कि आपका रूपान्तर प्रस्तुत करना है अथवा मौलिक कृति।

नाटकोंके रूपान्तरणकी अपेक्षा कहीं अधिक जटिल समस्या सिद्ध हुई
आधुनिक कवितामें पौराणिक कथा-प्रतीकोंके प्रयोगकी। बहस शुरू हुई
थी प्रस्तुत करनेकी एक टिप्पणीपर जिसमें भारतीकी 'कनुप्रिया'की
रचना-पद्धतिका एक संक्षिप्त विश्लेषण था। लेखकका मत था कि प्राचीन
चरित्रोंकी आधुनिक सन्दर्भमें संगति स्थापित करना ही मूल्योंके स्तरपर
पौराणिक प्रतीकोंका सफल प्रयोग कहा जा सकता है। हिन्दी कविताके
प्रारम्भिक कालमें पौराणिक कथाओंको फिरसे कहा-भर जाता था।
राष्ट्रीय आन्दोलनके दौरान मैथिलीशरण गुप्तकी अधिकांश रचनाएँ इसी
प्रकारसे लिखी गयी थीं। धीरे-धीरे प्रवृत्ति इस ओर बढ़ी कि इन प्रतीकोंकी
मूल संवेदना बिना किसी बाहरी उपकरणके समसामयिक जीवन-क्रमके
सन्दर्भमें उपस्थित की जाये। इस स्तरपर वे प्रतीक भाषाके विशिष्ट प्रयोग
मात्र रह जा सकते हैं। अपने कथाकाण्ड और वातावरणसे अलग किये
जाकर वे प्रतीक जितने सहज भावसे आधुनिक भाषाके अंग बन सकते हैं
उसी अनुपातसे रचनाकारकी सफलता मानी जायगी।

परिमल की दो गोष्ठियोंमें इस विषयकी कई दृष्टियोंसे विवेचना हुई।
एक अन्य उल्लेखनीय मत यह था कि पौराणिक प्रतीकोंका आधुनिक

कविताओंमें केवल व्यंग्य और 'आयरनी' के माध्यमसे ही प्रयोग हो सकता है, क्योंकि व्यंग्य और आयरनी' नयी कविताके विशिष्ट उपकरणोंमें-से है। इस मतके अनुसार कृष्णका अर्जुनको टैक्सीमें म्यूज़ियो-मार्गमें जाना ही आधुनिक प्रतीक-योजनाका ढंग है। पर इस दृष्टिमें अन्तर्निहित कई मौलिक भ्रान्तियोंकी ओर संकेत किया गया।

मेरी दृष्टिमें पौराणिक प्रतीकोंका आधुनिक प्रयोग मुख्यतः भाषाकी अर्थ-क्षमताओंमें वृद्धिके लिए होता है। कथाके पात्र धीरे-धीरे प्रतीकोंके रूपमें परिणत होते हैं और फिर परिष्कार तथा प्रयासके साथ-साथ ये प्रतीक भावचित्रोंमें बदल जाते हैं। राधा पहले किसी आख्यानकी नायिका रही फिर प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त हुई और सम्भावना इस बातकी है कि कालान्तरमें वह मात्र एक भावचित्र रह जाये। यह एक प्रकारसे 'जय भारत' 'कुरुक्षेत्र' और 'अन्धा युग' के माध्यमसे हमारी भाषाका विकास क्रम है। इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि नयी कविताके कई सन्दर्भोंमें अभिमन्यु अथवा चक्रव्यूहका प्रयोग प्रतीकके रूपमें न होकर कथा-अभिप्रायके रूपमें हुआ है। विकासके इस क्रममें 'माइथोलॉजी' धीरे-धीरे 'मिथ' बन जाती है जहाँ कथा पात्र प्रतीक अथवा कथा-अभिप्रायकी तरह किसी विशिष्ट नामकरणकी अपेक्षा नहीं रखती। भारतीकी मैं रथका टूटा हुआ पहिया हूँ कवितामें इस बातकी ओर कहीं संकेत नहीं किया गया कि यह टूटा हुआ पहिया सात महारथियोंसे घिरे हुए अभिमन्युका है। कथा प्रतीकका धीरे-धीरे भावात्म पर्यवसित होनेका यह एक अच्छा उदाहरण है।

ईलियटकी अधिकांश कविताओंमें पौराणिक प्रतीकोंका इसी प्रकार प्रयोग किया गया है। वहाँ भी कथा-प्रतीक संवेदनाके रूपमें परिणत हो गये हैं, और नामोल्लेखकी अपेक्षा नहीं रखते। विकासकी इस पद्धतिमें जैसा कि परिमल-गोष्ठीमें कहा भी गया व्यंग्य और 'आयरनी'का महत्त्व है ये प्रतीकोंको धर्म-निरपेक्ष और कर्मकाण्ड-निरपेक्ष बनाते हैं। लौकिक-

सावधानीके साथ कि नाटककारकी मूल आत्मा बराबर सुरक्षित रहे। यह उल्लेखनीय है कि आलेखके प्रस्तुतकर्ताओंका मत इसी ओर था।

धीरे-धीरे बात सिद्धान्त चर्चाकी ओर बढ़ी। प्रश्न था कि प्राचीन नाटक (प्रधानतः तो संस्कृतके ही पर पाश्चात्योंकी भी गणना की जा सकती है यद्यपि कुछ भिन्न सन्दर्भमें) आधुनिक सामाजिकके समक्ष किस प्रकार प्रस्तुत किये जायें ? यदि यह मान लिया जाये कि नाटकका रूपान्तरण मूलतः एक नया नाटक है, उसमें केवल प्राचीन लेखकका उपयोग-भर कर लिया गया है, तब तो इसी तर्कको आगे बढ़ाते हुए यह भी कहा जा सकता है कि नाटकका अनुभावन प्रत्येक सामाजिकके लिए सर्वथा एक नया कृतित्व है केवल वह इसके लिए नाटककार रूपान्तरकार, निर्देशक और अन्ततः अभिनेताका उपयोग-भर कर लेता है। यही बात शेष लोग अन्योन्य सम्भ्रम कह सकते हैं। किन्तु यह सूक्ष्म तत्त्व-विवेचन साहित्यसे हटकर न्याय और मीमांसामें चला जायेगा। अच्छा यह होगा कि हम किसी स्थितिको आधार-स्वरूप स्वीकार कर लें और फिर आगे बढ़ें। मान लीजिए कि नाटकका रूपान्तर उसका नया जन्म न होकर रूपान्तर ही रहता है (जब फिर अगर रूपान्तरकी बहसमें पड़े तो शायद यह भी करना पड़ जायेगा कि साठ वर्षका व्यक्ति वही व्यक्ति है जो साठ वर्ष पूर्व शिशु था अथवा इस रूपान्तरके साथ व्यक्ति भी बदल गया है) तो फिर इस रूपान्तरणकी क्या मर्यादाएँ होनी चाहिए ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटककार और दर्शकके बीच आलेख प्रस्तुतकर्ताकी स्थिति मध्यस्थकी होती है। कभी भाषाकी दृष्टिसे कभी रंगमंचकी सुविधाकी दृष्टिसे और कभी संक्षिप्त करनेके लिए ही आलेखकार को मूल कृतिमें परिवर्तन करने पड़ते हैं पर सामान्यतः इन परिवर्तनोंसे कृतिकी मौलिक संवेदनामें कोई अन्तर नहीं आता। रूपान्तर की आलेखकी रचना प्रायः किसी असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न लेखककी होती है। ऐसी रचनाओंका कलात्मक संगठन इतना गहरा और जटिल होता है कि

सामान्य परिवर्तनोंसे उसके मूल स्वरूपमें कोई विकृति नहीं आने पाती। और अगर कोई विकृति आ ही गयी है तो वह एक असफल रूपान्तरण है न कि एक नयी और स्वतन्त्र रचना। शेक्सपीयरके नाटकोंके मूल पाठको तो एक बड़ी हद तक आधुनिक बनानेकी चेष्टा की गयी है पर इससे उन रचनाओंकी मौलिक संवेदनामें कोई अन्तर नहीं आया है।

संस्कृतके नाटकोंको आधुनिक रंगमंचपर प्रस्तुत करनेमें विशेष कठिनाई नहीं है, ठीक उसी तरहसे जैसे रवीन्द्र और शरत्‌की कथा-कृतियोंका रस हिन्दीमें प्रायः अक्षुण्ण बना रहता है। एक ओर भाषाका कालगत अन्तर है तो दूसरी ओर स्थानगत। और या भी संस्कृतकी परम्पराओंसे हम अभी इतनी दूर नहीं हट गये हैं कि उनके कृतित्वको समझनेमें हमें कोई कठिनाई हो। संस्कृतके नाटकोंको रंगमंचपर उतारनेमें साधारणतः उतने ही परिवर्तन करने होंगे जितने कि मंच-व्यवस्थाकी दृष्टिसे आवश्यक हैं। अभी संस्कृतके नाट्य-साहित्यको समझने और उसे पचानेमें हमारे सामने संवेदनात्मक स्तरपर कोई विशेष कठिनाई है ऐसा मैं नहीं मान पाता। कई प्रकारके व्यवधान तो ऐतिहासिक संवेदनाको निर्मित करनेके लिए आवश्यक ही हैं।

संवेदनात्मक स्तरपर रूपान्तरणकी कठिनाई विदेशी नाटकोंके प्रसंगमें आती है। 'नाट्य केन्द्र' इस प्रकारका भी एक आयोजन कर चुका है। कुछ समय पूर्व इब्सनके नाटक 'हेडा गैब्लर'का रूपान्तर 'इन्द्राणी'के नामसे केन्द्रने प्रस्तुत किया था। नाटकके सारे पात्रों और वातावरणको भारतीय सन्दर्भमें रखा गया था। रूपान्तरकारने इस पद्धतिसे इब्सनके रंगमंचको काफी सफलतापूर्वक पुनराविष्कृत किया फिर भी कुछ ऐसे सन्दर्भ शायद जान-बूझकर ही छोड़े गये थे जो नाटकको यूरोपीय संस्कारोंका स्मरण दिलाते रहते थे। भारतीय सवर्णोंकी पत्नियोंका चरित्र कुछ ऐसा ही था। कुल मिलाकर 'इन्द्राणी' चौधरके मूल चरित्रके माध्यमसे 'हेडा गैब्लर'की संवेदना उभारी गयी थी। रूपान्तरकारी यह

पद्धति मूलक भाव बिना कोई अन्याय किये ही नाटककी आस्थाको अभिव्यक्त कर सकती है। यह दूसरी बात है कि इस पद्धतिका प्रयोग सभी विदेशी नाटकोंमें सफलतापूर्वक न किया जा सके। आर्थर मिलर का 'डेथ ऑव ए सेल्समैन' हिन्दी मंचपर इस तरह अभिनीत हो सकता है जब कि 'द कमिक्स की संवेदना नितान्त स्थानीय उपकरणोंमें उलझी रहनेके कारण भाषा और वातावरणसे इतनी अधिक सम्पृक्त है कि इनसे उसे अलग नहीं किया जा सकता। पर, रूपान्तर चाहे संस्कृत नाटकका हो चाहे किसी विदेशी नाटकका यदि सक्षम है तो मूल रचनाका पुनर्सृजन ही है। हाँ असफल होनेपर नयी कृति अवश्य हो सकती है। पर प्रश्न यह है कि भाषाकी रूपान्तर प्रस्तुत करना है अथवा मौलिक कृति।

नाटकोंके रूपान्तरणकी अपेक्षा कहीं अधिक जटिल समस्या सिद्ध हुई आधुनिक कवितामें पौराणिक कथा-प्रतीकोंके प्रयोगकी। बहस शुरू हुई थी प्रस्तुत लेखककी एक टिप्पणीपर जिसमें भारतीकी 'कनुप्रिया' की रचना-पद्धतिका एक संक्षिप्त विश्लेषण था। लेखकका मत था कि प्राचीन चरित्रोंकी आधुनिक सन्दर्भमें संगति स्थापित करना ही मूल्योंके स्तरपर पौराणिक प्रतीकोंका सफल प्रयोग कहा जा सकता है। हिन्दी कविताके प्रारम्भिक कालमें पौराणिक कथाओंको फिरसे कहा-भर जाता था। राष्ट्रीय आन्दोलनके दौरान मैथिलीशरण गुप्तकी अधिकांश रचनाएँ इसी प्रकारसे लिखी गयी थीं। धीरे-धीरे प्रवृत्ति इस ओर बढ़ी कि इन प्रतीकोंकी मूल संवेदना बिना किसी बाहरी उपकरणके समसामयिक जीवन-क्रमके सन्दर्भमें उपस्थित की जाये। इस स्तरपर ये प्रतीक भाषाके विशिष्ट प्रयोग-मात्र रह जा सकते हैं। अपने कर्मकाण्ड और वातावरणसे अलग किये जाकर ये प्रतीक जितने सहज भावसे आधुनिक भाषाके अंग बन सकते हैं, उसी अनुपातसे रचनाकारकी सफलता मानी जायेगी।

'परिमल' की दो गोष्ठियोंमें इस विषयकी कई दृष्टियोंसे विवेचना हुई। एक अन्य उल्लेखनीय मत यह था कि पौराणिक प्रतीकोंका आधुनिक

कवितामें केवल व्यंग्य और 'आयरनी' के माध्यमसे ही प्रयोग हो सकता है, क्योंकि व्यंग्य और 'आयरनी' नयी कविताके विशिष्ट उपकरणमात्र-से हैं। इस मतके अनुसार कृष्णका मनुजको तत्काल स्पूरियो-माटम बनना ही आधुनिक प्रतीक-योजनाका ढंग है। पर इस दृष्टिमें अन्तर्निहित कई मौलिक त्रुटियोंकी ओर संकेत किया गया।

मेरी दृष्टिमें पौराणिक प्रतीकोंका आधुनिक प्रयोग मुख्यतः भाषाकी अर्थ-क्षमतामें वृद्धिके लिए होता है। कथाके पात्र धीरे-धीरे प्रतीकोंके रूपमें परिणत होते हैं और फिर परिष्कार तथा प्रयोगके साथ-साथ ये प्रतीक भावचित्रोंमें बदल जाते हैं। राधा पहले किसी आख्यानकी नायिका रही फिर प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त हुई और सम्भावना इस बातकी है कि कालान्तरमें यह भाव एक भावचित्र रह जाये। यह एक प्रकारसे 'जय भारत' 'कुरुक्षेत्र' और 'अन्धा युग' के माध्यमसे हमारी भाषाका विकास क्रम है। इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि नयी कविताके कई सन्दर्भोंमें अभिमन्यु अथवा चक्रव्यूहका प्रयोग प्रतीकके रूपमें न होकर कथा-अभिप्रायके रूपमें हुआ है। विकासके इस क्रममें 'माखीकाजी' धीरे-धीरे 'मिथ' बन जाती है जहाँ कथा पात्र प्रतीक अथवा कथा-अभिप्रायकी तरह किसी विशिष्ट नामकरणकी अपेक्षा नहीं रखती। भारतीकी 'मैं रथका टूटा हुआ पहिया हूँ' कवितामें इस बातकी ओर कहीं संकेत नहीं किया गया कि यह टूटा हुआ पहिया सात महारथियोंसे घिरे हुए अभिमन्युका है। कथा प्रतीकका धीरे-धीरे भाषामें व्यवसित होनेका यह एक अच्छा उदाहरण है।

रीतिकालकी अधिकांश कविताओंमें पौराणिक प्रतीकोंका इसी प्रकार प्रयोग किया गया है। वहाँ भी कथा-प्रतीक संदर्भोंके रूपमें परिणत हो गये हैं, और नामोल्लेखकी अपेक्षा नहीं रखते। विकासकी इस पद्धतिमें जैसा कि परिमल-गोष्ठीमें कहा भी गया व्यंग्य और 'आयरनी' का महत्त्व है ये प्रतीकोंको कथा-निरपेक्ष और कथाप्रसंग-निरपेक्ष बनाते हैं। लौकिक-

ताकी यह प्रक्रिया आवश्यक है, पर अपने-आपमें यह एक साधन ही है साध्य नहीं। प्रतीकोंकी वास्तविक अर्थ-क्षमताका विकास भाषा-संवेदनाकी दृष्टिसे देखे जानेपर ही समझा जा सकता है। विकासके एक छोरपर 'अजस्र चक्र' है, दूसरी ओर 'टूटा पहिया'। पहली रचनामें एक पौराणिक आख्यानका वर्णन है, दूसरीमें भाषाके स्तरपर इस आख्यानका सूक्ष्म अर्थ-विकास है। यह भाषाका संवेदनात्मक विकास कथा-भावों प्रतीकों और भावचित्रोंके माध्यमसे ही सम्भव हो पाता है।

■

कही नहीं गया कि अश्लीलता नैतिकता-बोधका विषय है, क्योंकि लेखक (भावन अग्रवाल) की एक मान्यता यह है कि साहित्यमें अनुभूति नैतिक अथवा अनैतिक न होकर 'पूर्व-नैतिक' होती है। इसीलिए अग्रवाल अश्लीलताको साहित्यके सामाजिक तत्त्वोंके रूपमें सम्बद्ध मानते हैं। साहित्यका यह सामाजिक पक्ष मुख्यतः भाषाके स्तरपर और उसके माध्यमसे प्रमाणित करता है।

सच तो यह है कि जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें अश्लीलताका कोई एक मापदण्ड नहीं हो सकता। साहित्य तथा सामान्य आचरण नैतिक जीवन सेन्सर और कानूनमें अश्लीलताके स्रोत अलग-अलग हो सकते हैं, और हैं। इसके अतिरिक्त अश्लीलता देश और काल-सापेक्ष भी है। ऐसी स्थितिमें हम यहाँ केवल साहित्यके सन्दर्भमें अश्लीलतापर विचार कर सकते हैं। इस सम्बन्धमें भाषाके महत्त्वकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। इस महत्त्वका एक कारण है। अश्लीलताओंको जब सौन्दर्य-बोधका अभाव माना गया तभी कर्णकटु ध्वनियों या ध्वनि-क्रमोंको अश्लीलताका कारण मान लिया गया। इस प्रसंगमें हिन्दीके सुप्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ विश्वनाथप्रसादके एक निबन्ध 'ए फोनेस्थेटिक आस्पेक्ट ऑव ऐग्रेसिवनेस'की ओर मैं पाठकोंका ध्यान दिलाना चाहूँगा जो 'इण्डियन लिंग्विस्टिक्स'के चैटर्जी-जुबिली-वाल्यूममें छपा है। लेखकने इस प्रसंगमें प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र और नव्य चिन्तन (प्रो फर्थका 'साउण्ड्स एण्ड प्रोसोडीज़') दोनोंका ही उल्लेख किया है। अनेक उदाहरण देकर डॉ प्रसादने यह दिखाया है कि 'ऐसे शब्द जो अरुचिकर भावनाओंको जाग्रत करते हैं या किसी प्रकारकी हिंसा भय अव्यवस्था परेशानी या कठोरता-की ओर संकेत करते हैं प्रायः मूर्धन्य ध्वनियोंसे संयुक्त होते हैं। कठोर ध्वनिक्रम (केवल मूर्धन्य ही नहीं) काव्यके सौन्दर्य-बोधको नष्ट करते हैं और अश्लीलताकी सृष्टि करते हैं। क्योंकि साहित्यके क्षेत्रमें सौन्दर्य-बोध को मुक्त वृत्तिकी समग्रताका परिणाम है, (देखिए अज्ञेय-द्वारा इस सम्बन्धमें

दिये गये उत्तर जो पहले 'ज्ञानोदय'के प्रथम अंकमें और अब लेखकके नवीनतम संकलन 'आत्मनेपद'में प्रकाशित हुए हैं)के नष्ट होनेसे बढ़कर और कोई अश्लीलता नहीं है। नैतिकता-बोधका तो यहाँ कोई सन्दर्भ ही नहीं उपस्थित होता।

जैसा पहले ही संकेत किया गया अश्लीलताके कारण अभिव्यक्तिके सब माध्यमोंमें एक-जैसे नहीं होते। उदाहरण मूर्तिकलाको लीजिए। साहित्य और सम्भवतः सामान्य व्यवहारके प्रसंगमें मैंने अश्लीलताका मूल स्रोत भाषाको माना है। पर मूर्तिकलाके क्षेत्रमें निश्चय ही इस स्थितिकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती। इसी प्रकारसे अन्य सन्दर्भोंमें भी परिवर्तनकी गुंजाइश है।

काव्यगत अश्लीलताकी स्थिति एक उदाहरणके साथ स्पष्ट करना चाहूँगा। कवि निरालाकी पंक्तियाँ हैं

"दूर ग्राम की कोई वामा
आये मन्द-चरण अभिरामा
अवसन जल में उतरे श्यामा
अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो।" (—जीवन भर दो)

इस उदाहरणकी तीसरी पंक्तिमें 'अवसन'के स्थानपर यदि 'नंगी'कर दिया जाये — 'नंगी जलमें उतरे श्यामा' तो न तो मूल भावमें कोई अन्तर आता है और न छन्दकी गतिमें कोई अव्यवस्था उत्पन्न होती है। पर समूचा भाव अचानक विकृत हो जाता है। सौन्दर्य-बोधको आघात पहुँचता है, (नंगी) और अश्लीलताका भान होने लगता है उर-छवि सुन्दरतर न होकर अश्लीलतर हो जाती है। (अर्थात् सौन्दर्य-बोधका अभाव और अश्लीलताका उदय)। इससे तो यही लगता है कि समूची धारणाको एक शब्द 'नंगी'ने अश्लील-ताकी प्रतीति दे दी है। इस प्रकार यहाँ अश्लीलता स्पष्ट ही भाव-गत न होकर शब्द-ध्वनियोंके साथ सम्बद्ध है। यों तो शब्दका वास्तविक बल

भाषा और पुराण-कथा
अन्तरसम्बन्धपर पुनर्विचार

पुराण-कथाएँ क्रमशः भाषाके सामान्य रूपमें पर्यवसित हो जाती हैं, यह अब एक प्रायः स्वीकृत सिद्धान्त है। अनेक पाश्चात्य विद्वानोंने इस क्षेत्रमें काम करके नानाविध सत्य सुझाये हैं। हिन्दी कवितामें कुछ पौराणिक प्रतीकोंके सीमित उपयोगकी चर्चा अन्यत्र कर चुका हूँ। पर वास्तविकता यह है कि हिन्दी भाषाका गठन (और शायद दूसरी भारतीय भाषाओंका भी) भाषा और पुराण-कथा (मिथ) की उस निकटताको सिद्ध करता नहीं दिखाई देता जिसे अनेक भाषा-शास्त्रियों साहित्य-चिन्तकों और नृतत्त्व-शास्त्रियोंने आरम्भमें यूरोपीय भाषाओं और फिर मुख्यतः पाश्चात्य वाङ्मयके अध्ययनके आधारपर बलपूर्वक प्रतिपादित किया है। भारतीय साहित्य और संस्कृतिमें बहुत-से पौराणिक सन्दर्भ (एल्यूजन्स) तो हैं, पर हमारी भाषाके विकासमें पुराण-कथाओंका योग प्रायः नगण्य है।

पश्चिमके विद्वानोंमें सम्भवतः मैक्समूलरका प्रथम महत्त्वपूर्ण नाम है, जिन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञानके सन्दर्भमें भाषा और पुराण-कथाका सम्बन्ध आन्तरिक संघटनके स्तरपर स्थापित किया है। उनका निष्कर्ष था 'पुराण-कथाएँ भाषाकी अपरिहार्य स्वाभाविक और अन्तर्निहित आवश्यकता हैं यदि हम भाषामें विचारके बाह्य रूप और अभिव्यक्तिको मानते हैं।' तबसे कई लेखकों विचारकोंने इस मतको अपने-अपने ढंगसे पुरस्कृत किया है। अर्नेस्ट केसिरर (लैंग्वेज ऐण्ड मिथ) पुस्तक में

कैस्सर (फिलॉसफी इन ए न्यू की) तथा ओवेन बारफ़ील्ड (हिस्ट्री इन इंग्लिश वर्ड्स) के नाम उदाहरणके तौरपर लिये जा सकते हैं। बारफ़ील्डने अँगरेज़ीके कुछ सामान्य शब्दोंको लेकर यह दिखाया है कि किस प्रकार उनके स्रोतमें पुराण-कथाएँ हैं। उनके अनुसार 'सिरीयल'का उद्गम अन्न और फूलोंकी देवी 'सिरस' है, 'पैनिक' का सम्बन्ध ग्रीक देवता 'पैन'से है और इसी प्रकार 'फ्रेट'के मूलमें रोमनोंकी देवी 'फ़्रट्' है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरणोंको प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी मान्यता इन शब्दोंमें व्यक्त की है 'भाषाका जितना ही पिछला इतिहास देखा जाता है, उतने ही इसके स्रोत काव्यात्मक और जीवन्त दिखाई पड़ते हैं और अन्तत यह पुराण-कथाके धुँधलकेमें अन्तर्भुक्त हुयी जान पड़ती है।

पर हिन्दी शब्द-समूहका विश्लेषण इस मतको पुष्ट नहीं करता। हिन्दीकी सामान्य-शब्दावलीमें 'सिरीयल' 'पैनिक' और 'फ्रेट' के वज़नपर पुराण-कथाओंसे विकसित शब्द बहुत ढूँढ़ने ही से कुछ मिल सकेंगे। इस स्थितिके पीछे कई आधारभूत कारण देखे जा सकते हैं, जिनकी ओर अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय नृतत्त्व-शास्त्रियों और भाषा-शास्त्रियोंने ध्यान नहीं दिया। सबसे पहली बात तो यह है कि यूरोपमें विशेषत इंग्लैण्ड तथा अन्य टयूटोनिक जातियोंके देशोंमें प्रचलित ग्रीक और रोमन पुराण-कथाएँ इन जातियोंकी अपनी नहीं हैं। पर हमारे देशकी पुराण-कथाएँ उसी जातिकी हैं जो संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी बोलती रही है। इस निरन्तरता और संसक्तिके कारण हम पुराण-कथाओंको सन्दर्भों (एल्यूजन्स) के रूपमें तो प्रयुक्त करते रहे, पर अपनी भाषामें उन्हें पर्यवसित नहीं कर पाये। उनका व्यक्तिवाचक नाम होना हमारे लिए इतना प्रबल मान्य रहा और पुराणोंके इन देवी-देवताओंका अस्तित्व इतना जीवन्त रहा कि उनके नामोंको हम अपनी सामान्य भाषाके शब्द नहीं बना सके। यूरोपकी अधिकांश जातियोंका सम्बन्ध ग्रीक और रोमन पुराण-कथाओंसे इतने तादात्म्यका नहीं रहा।

भी अनिवार्य रूपसे उसकी ध्वनियोंमें निहित नहीं होता फिर ध्वनियोंमें सम्बद्ध अर्थका तो कहना ही क्या। पर कुछ कण-कटु ध्वनियाँ अवश्य ही सौन्दर्य-बोधको आहत करती हैं और अश्लीलत्वको जन्म देती हैं। 'नंगा' और इससे मिलते जुलते बहुत-से ध्वनि-क्रम ऐसे ही हैं—चंगा दंगा पुंग (भंग) इत्यादि। गंगाकी स्थिति भिन्न हो जाती है उसके पवित्र सन्दर्भके कारण। इसी तरहसे 'नंगा' भी कहीं-कहीं अश्लीलताकी प्रतीति नहीं कराता अपने सन्दर्भके कारण—'नंगा भिक्षु'। पर यहाँ भी यदि 'नग्न भिक्षु' कहा जाये तो अधिक अच्छा लगेगा। क्योंकि बहुत-से शब्द ऐसे हैं जो अपने संस्कृत तत्सम रूपमें एक प्रकारका अर्थ देते हैं और तद्भव रूपमें दूसरे प्रकारका (स्तन—थन)। नग्न और नंगामें भावात्मक अन्तर सौन्दर्य बोधको प्रभावित करता है। पर यह ठीक है कि बहुत-से स्थल ऐसे भी हो सकते हैं जहाँ कण-कटु ध्वनियोंके बावजूद शब्दमें अश्लीलत्वकी प्रतीति न हो क्योंकि अश्लीलत्वके नियामक निर्णय ही उसमें अधिक तत्त्व हैं। भाषा उनमें-से एक है, और हिन्दीके सन्दर्भमें काफी महत्त्वपूर्ण। यों स्वयं 'अश्लीलता' शब्दके ध्वनि-क्रममें अश्लीलताका बोध नहीं होता। और वस्तुतः तो दार्शनिक स्तरपर बाहर कुछ है ही नहीं किसी भी वस्तुका साक्षात्कार व्यक्तिके मनमें ही होता है, सामाजिककी रसानुभूतिकी तरह।

संस्कृतमें अश्लीलत्वको शब्द-दोष और अर्थ-दोष दोनोंके अन्तर्गत रखा गया है। मेरा निवेदन मात्र इतना है कि सम्प्रति हिन्दीकी प्रकृतिमें साहित्यिक स्तरपर भी और बोल-चालके दौरानमें भी अश्लीलता मुख्यतः भाषाके स्तरपर है। पर यह स्थिति बदल सकती है, और बदल रही है। 'नदीके द्वीप'के कुछ स्थलोंका उल्लेख मैंने पिछली बार किया था। नागरके 'बूँद और समुद्र'के पात्र माँ-बहनकी गालियोंका प्रयोग सामान्य बोल-चालमें करते हैं। पर वहाँ लेखकने इन गालियोंके ध्वनि-क्रमका बड़ी चतुराईसे प्रयोग किया है। इसीलिए मुद्रित पृष्ठपर भी वे अश्लील नहीं लगतीं।

रघुवीरसहायकी कविता 'हमारी हिन्दी' में 'हगाती है' क्रियाका प्रयोग इस ढंगसे किया गया है जिससे कि शब्दकी अश्लीलता मानो बरबस उससे अलग कर दी गयी हो। ऐसी स्थितिमें यह सम्भव है कि कालान्तरमें हिन्दी भाषी प्रदेशमें अश्लीलताके बारेमें धारणा बदल जाये। इस प्रसंगमें यह उल्लेखनीय है कि लॉरेंसने अपने निबन्ध ('सलेक्ट २१) को समाप्त करते हुए कहा है– 'सौन्दर्य-बोध बढ़े तब अश्लीलता अपनी चिन्ता खुद करेगी।" (लेट द कान्शसनेस ऑव द ब्यूटीफुल इंक्रीज ऑब्सिनिटी विल टेक केयर ऑव इटसेल्फ) और हिन्दीके प्रसंगमें मैं यह और जोड़ना चाहूँगा कि यह सौन्दर्य-बोध सबसे पहले भाषाके स्तरपर विकसित हो क्योंकि अज्ञेयके साथ मैं भी यह मानता हूँ कि अच्छी भाषा लिखना अपने-आपमें एक उपलब्धि है।

■

भाषा और पुराण-कथा
अन्तरसम्बन्धपर पुनर्विचार

पुराण-कथाएँ क्रमशः भाषाके सामान्य रूपमें पर्यवसित हो जाती हैं यह अब एक प्रायः स्वीकृत सिद्धान्त है। अनेक पाश्चात्य विद्वानोंने इस क्षेत्रमें काम करके नानाविध साक्ष्य जुटाये हैं। हिन्दी कवितामें कुछ पौराणिक प्रतीकोंके सीमित उपयोगकी चर्चा अन्यत्र कर चुका हूँ। पर वास्तविकता यह है कि हिन्दी भाषाका गठन (और शायद दूसरी भारतीय भाषाओंका भी) भाषा और पुराण-कथा (मिथ) की उस निकटताको सिद्ध करता नहीं दिखाई देता जिसे अनेक भाषा-शास्त्रियों साहित्य चिन्तकों और नृतत्त्व-शास्त्रियोंने आरम्भमें भारोपीय भाषाओं और फिर मुख्यतः पाश्चात्य वाङ्मयके अध्ययनके आधारपर बलपूर्वक प्रतिपादित किया है। भारतीय साहित्य और संस्कृतिमें बहुत-से पौराणिक सन्दर्भ (एल्यूजन्स) तो हैं पर हमारी भाषाके विकासमें पुराण-कथाओंका योग प्रायः नगण्य है।

पश्चिमके विद्वानोंमें सम्भवतः मैक्समूलरका प्रथम महत्त्वपूर्ण नाम है जिन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञानके सन्दर्भमें भाषा और पुराण-कथाका सम्बन्ध आन्तरिक संघटनके स्तरपर स्थापित किया है। उनका निष्कर्ष था 'पुराण-कथाएँ भाषाकी अपरिहार्य स्वाभाविक और अन्तर्निहित आवश्यकता हैं यदि हम भाषामें विचारके बाह्य रूप और अभिव्यक्तिको मानते हैं। तबसे कई क्षेत्रोंके विचारकोंने इस मतको अपने-अपने ढंगसे पुरस्कृत किया है। अर्नेस्ट कैसिरर (लैंग्वेज ऐण्ड मिथ) सूजन के

कैमर (फिलॉलजी एन ए म्यू की) तथा मॉरिस जास्त्रोस्त (हिस्ट्री एन ऍग्लिश वर्ड स) के नाम उदाहरणके तौरपर लिये जा सकते हैं। जास्त्रोस्त ने मॅसरेबीके कुछ सामान्य शब्दोंको लेकर यह दिखाया है कि किस प्रकार उनके स्रोतमें पुराण-कथाएँ हैं। उनके अनुसार 'सिरील'का उद्गम अस्र और फूलोंकी देवी 'सिरस' है, 'पैनिक'का सम्बन्ध ग्रीक देवता 'पन'से है और इसी प्रकार 'फ्रेट'के मूलमें रोमनोंकी देवी 'फ्टा' है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरणोंको प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी मान्यता इन शब्दोंमें व्यक्त की है 'भाषाका जितना ही पिछला इतिहास देखा जाता है उतने ही उसके स्रोत काव्यात्मक और जीवन्त दिखाई पड़ते हैं और अन्ततः वह पुराण-कथाके धुँधलकेमें अन्तर्मुक्त होती जान पड़ती है।

पर हिन्दी शब्द-समूहका विश्लेषण इस मतको पुष्ट नहीं करता। हिन्दीकी सामान्य-शब्दावलीमें 'सिरील' 'पैनिक' और 'फ्रेट' के वजनपर पुराण-कथाओंसे विकसित शब्द बहुत ढूँढ़ने ही से कुछ मिल सकेंगे। इस स्थितिके पीछे कई आधारभूत कारण देखे जा सकते हैं जिनकी ओर अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय नृतत्त्व-शास्त्रियों और भाषा-शास्त्रियोंने ध्यान नहीं दिया। सबसे पहली बात तो यह है कि यूरोपमें विशेषतः इंग्लैण्ड तथा अन्य टयूटोनिक जातियोंके देशोंमें प्रचलित ग्रीक और रोमन पुराण-कथाएँ उन जातियोंकी अपनी नहीं हैं। पर हमारे देशकी पुराण-कथाएँ उसी जातिकी हैं जो संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी बोलती रही है। इस निकटता और संततिके कारण हम पुराण-कथाओंको मन्त्रों (एल्यूजन्स)के रूपमें तो प्रयुक्त करते रहे, पर अपनी भाषामें उन्हें पर्यवसित नहीं कर पाये। उनका व्यक्तिवाचक नाम होना हमारे लिए इतना प्रबल सत्य रहा और पुराणोंके उन देवी-देवताओंका अस्तित्व इतना निर्विवाद रहा कि उनके नामोंको हम अपनी सामान्य भाषाके शब्द नहीं बना सके। यूरोपकी अधिकांश जातियोंका सम्बन्ध ग्रीक और रोमन पुराण-कथाओंसे इतना तादात्म्यका नहीं रहा।

एक सीमा तक इस दूरीके कारण ग्रीक और रोमकी इन कथाओंको प्राय: समस्त यूरोप अपनी पुराण-कथाएँ (मायथॉलॉजी) मान सका। भारतमें उसकी पुराण-कथाओंका मूल धार्मिक रूप और महत्त्व बराबर अक्षुण्ण बना रहा। सामान्य भाषामें उनके पर्यवसित होनेके लिए जिस धर्म-निरपेक्ष परिस्थितिकी आवश्यकता थी वह हमारे देशमें विकसित ही नहीं हुई। पुराण-कथाओंके लिए आवश्यक है कि परवर्ती लोग उनमें धर्म-बुद्धिका पोषण न करें, पर हमारे देशकी जनतामें धार्मिक भावनाके अतिरेकके कारण ऐसी धर्म-निरपेक्ष स्थिति कभी सम्भव न हो सकी। धार्मिक सम्मानकी प्रबल भावनाके कारण हम पौराणिक सन्दर्भोंको सदैव एक आदर और विशिष्टताके भावसे प्रयोग करनेके अभ्यस्त रहे हैं। सामान्य भाषामें सामान्य प्रकारसे उनका व्यवहार हमारे संस्कारोंके विरुद्ध है। 'ओडिसस या 'फ्रेट्स' या प्रसंग-जैसे शब्दोंका पश्चिम तटस्थ भावसे प्रयोग करता है पर हम अर्जुन या 'हनुमान्' का प्रयोग वैसे सामान्य ढंगसे नहीं कर सकते। इसीलिए 'ओडिसी' अँगरेजीमें कठिन कार्योंकी शृंखलाका पर्याय बन गया है, 'हनुमान्' हमारी भाषामें केवल एक देवता-विशेषका वाचक है अर्जुन एक वीरका नाम है।

भाषा और पुराण-कथाकी निकटता प्रतिपादित करनेवाले विचारकोंने भारतीय और पाश्चात्य पुराण-कथाओंके इस मौलिक अन्तरको नहीं पहचाना। पुराण-कथाओंके अपने स्वरूपमें साधारणत: धार्मिक भावनाका प्रवेश नहीं होता। पर भारतीय पुराण-कथाएँ सबसे पहले और बादमें भी सम्भवत: अन्त तक धार्मिक भावनासे सम्पृक्त हैं। यूरोपमें बाइबल अपने अंगो-उपांगोसहित धर्म-ग्रन्थ है, और वहाँकी अधिकांश प्रचलित पुराण कथाओंका स्रोत ग्रीक या रोमन है। हमारे देशमें ऐसा स्पष्ट अन्तर और विभाजन नहीं रहा। यहाँकी कथाएँ उस अर्थमें धर्म-निरपेक्ष हुई पुराण कथाएँ नहीं हैं वे हमारे धार्मिक जीवनके अनिवार्य अंगके रूपमें रही हैं और अब भी हैं। यही स्थिति अन्य पुराणों और रामायण तथा महा-

भारतकी कथाओंकी है। इस विशिष्ट परिस्थितिके कारण हमारे देशके रचनाकार और अन्य भाषा-प्रयोक्ता अपनी भाषामें इन पुराण-कथाओंको उनके सन्दर्भसे खींचकर सामान्य शब्दोंके रूपमें नहीं उतार सके। महाभारतसे लेकर नयी कविता तकके विस्तृत अन्तरालमें 'चक्रव्यूह'-जैसे दो-चार प्रसंग अपने पौराणिक परिवेशसे अलग हो सके हैं। शेष पुराण-कथाएँ या तो कथा हैं या प्रतीक या बहुत हुआ तो सार्थक पर सामान्य भाषाके अंग-रूपमें वे प्रचलित नहीं हुए।

कविके लिए यह स्वाभाविक है कि एकबारगी वह किसी शब्दके अर्थको पूरा-पूरा नहीं ग्रहण करता। यथावश्यकता वह उसके किसी पक्ष या अर्थ-विशेषका वैकल्पिक रूपसे लेता है। इस स्थितिके अनुकूल ही नयी कविताके कवि व्यंग्य (आइरनी)के माध्यमसे पौराणिक प्रतीकोंको धर्म-निरपेक्ष बनाकर उन्हें सार्थक रूपमें प्रचलित करना चाहते हैं। इस प्रकार 'अभिमन्यु' या 'कच' अनुसार वे नहीं चाहते कि इस पौराणिक सन्दर्भोंका समूचा परिवेश और उसके साथ जुड़ा हुआ लम्बा वर्षोंका इतिहास जो इन रचनाकारोंके लिए उस समय अवांछित ही नहीं एक बाधक तत्त्व है, उन सब प्रयोगोंके साथ चिपटा-लिपटा चला आये। वे सन्दर्भसे प्रतीक और प्रतीकसे सार्थक विकसित करना चाहते हैं। पर पुराण-कथाओंका भाषाके सामान्य स्तरपर उतर आना हमारी अपनी विशिष्ट परिस्थितियोंमें कभी सम्भव नहीं रहा। पश्चिमकी धर्म-निरपेक्ष पुराण-कथाओंका भाषिक संचरण अपेक्षया सहज था। वहाँ इसका उपयोग इसीलिए सन्दर्भोंके रूपमें भी होता है और भाषाके सामान्य धरातलपर भी ये पुराण-कथाएँ उतरी हैं। किन्तु हमारी पुराण-कथाएँ बराबर धर्मसे संबद्ध रहनेके कारण न तो पिछले कालोंमें भाषामें प्रचलित हुई और अब आधुनिक शब्द सहज रूपमें लिये जानेपर भी यह रूपान्तरण अत्यन्त असम्भाव्य जान पड़ता है। इस दृष्टिसे भाषाके विकासमें पुराण-कथाका अनिवार्य योग नहीं माना जा सकता जैसा मैक्समूलर प्रभृति पश्चिमके

विचारकोंने सिद्ध करना चाहा है। युरोपकी अनेक पुराण-कथाएँ वहाँकी सामान्य भाषाओंमें उतर आयी हैं इस आधारपर भाषा-मात्रके सम्बन्धमें पुराण-कथाके अनिवार्य योगका सिद्धान्त प्रतिपादित करना संभव नहीं है।

■

भाषा और संवेदना

मौलिक प्रकृतिकी चर्चाके साथ काव्य-भाषाके एक और पक्षका विवेचन भी आवश्यक है। कविता या समूचे साहित्यकी रचनात्मक प्रक्रियाके विवेचनके समय प्रायः रचना-संवेदना और भाषाको ऐसे देखा जाता है जैसे वे दोनों कोई सर्वथा अलग तत्त्व हों। भाव-पक्ष कला-पक्ष विचार और विधान संवेदना और शिल्प-जैसे नामकरण भी रचनाके आन्तरिक संघटनको स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। पर एक प्रकारकी समीक्षामें यह विभाजन शायद बहुत कुछ अनिवार्य-सा हो गया है। पर इसमें भी भाषाकी एक स्थिति यह है, जिसमें भाषाको भावोंकी अनुगामिनी माना जाता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि इस प्रस्तावनाको उलटकर देखा जाये तो क्या रचना-प्रक्रिया कुछ आसानीसे समझी जा सकती है? अर्थात् भाषाको भावोंकी अनुगामिनी न मानकर भावों और संवेदनोंकी प्रकृतिका भाषा-द्वारा अनुशासित और निर्धारित होना माना जाये। प्रचलित प्रणाली-का यह विरोध केवल कौतूहलसे प्रेरित न होकर कुछ भाषा-वैज्ञानिक विवेचनोंपर भी आधारित है।

भाव और भाषामें-से कौन पहले आता यह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है। एकके अभावमें दूसरेकी कल्पना कठिन है। पर विकसित साहित्योंमें कौन किसे निर्धारित करता है यह जानना शायद उतना दुःसाध्य नहीं। प्रचलित मान्यताके अनुसार मैथिलीशरण गुप्त सुमित्रानन्दन पन्त अज्ञेय तथा रघुवीरसहायकी भाषामें इसलिए अन्तर है क्योंकि उनके भाव उत्तरोत्तर बदलते गये हैं। पर यहाँ इस तथ्यको भुला दिया जाता है कि भाषा केवल माध्यमके ही प्रयुक्त नहीं होती वरन् मानव जीवनकी प्रक्रिया-

का एक अभिन्न अंग है। कवि जिन अनुभूतियोंको व्यक्त करना चाहता है, उसके पूर्व-रूप उसने भाषाके किसी रूपमें ही सोचे होंगे। इस दृष्टिसे काव्य-सृजनके पूर्व ही उसका संवेदन किसी भाषामें उसे उपलब्ध हुआ होगा। उस अन्तरमन्थनकी भाषाका रूप क्या है? क्योंकि वह तो रचना-सृष्टिके पूर्व ही उसके व्यक्तित्वमें अवस्थित है। उसकी काव्य-भाषा उसके भावोंसे यदि निर्धारित होती है तो उसके संवेदनकी भाषा उसे कहाँसे मिलती है? उसकी व्यापक अनुभूतियोंकी भाषा क्या है? क्या एक स्तरपर उसकी विकसित भाषाका स्वरूप ही जो उसे समाजसे मिला है, उसकी व्यापक अनुभूतिको निर्धारित नहीं करता? क्या ऐसा नहीं है कि जो भाषा जिस हद तक विकसित और परिष्कृत होती है उसीके अनुरूप उसके उपयोग करनेवालोंकी संवेदना बनती है?

रचनाकारको सृजनके पूर्व और बाद दोनों ही स्थितियोंमें भाषाका प्रयोग करना है। पहला रूप वह मुख्यतः समाजसे ग्रहण करता है, और दूसरे रूपमें वह अपने व्यक्तित्वको भी मिश्रित कर देता है पर उसी हद तक कि उसकी भाषा उसके समाजके लिए ग्रहणीयता बनाये रख सके। अतः भाषाका आधारभूत रूप वह है, जो रचनाकार समाजसे स्वीकार करता है और उसीके अनुकूल उसकी संवेदना निखरती है, जिसे वह फिर अपनी काव्य-भाषामें व्यक्त कर देता है। जैसा कहा गया यह काव्य-भाषा एक निश्चित सीमा तक कविके व्यक्तित्वके अनुकूल रूपाकार ग्रहण करती है पर अपनी आधारभूत सामाजिक भाषासे वह पृथक् नहीं हो सकती जो कि रचनाकारकी संवेदनाका माध्यम और स्रोत है। इसीलिए भाषाके अर्थ-बोधके साथ-साथ साहित्यमें संवेदनात्मक गहराई बढ़ती जाती है। इस दृष्टिसे मैथिलीशरण गुप्त और रघुवीरसहायकी रचना-संवेदनाका अन्तर उनके लिए उपलब्ध भाषाके अन्तरके कारण है।

भाषाका विकास चिन्तन-क्षमताको प्रभावित करता है, इसके प्रमाण हिन्दी साहित्यके इतिहासमें देखे जा सकते हैं। १   ई के लगभग

जब हिन्दी अपभ्रंशके प्रभावसे मुक्त एक स्वतन्त्र भाषाके रूपमें उदय हुई उस समय उसकी चिन्तन-क्षमता अत्यन्त न्यून थी। इसके बाद भी ब्रजभाषा अथवा अवधीके सारे काव्य-सौष्ठवके बावजूद हिन्दी-भाषी प्रदेशकी चिन्तन-क्षमता विकसित नहीं हो सकी क्योंकि ये भाषाएँ एक विशेष प्रकारकी संवेदनाको ही वहन कर सकती थीं। यही कारण है कि ब्रजभाषा-जैसी परिष्कृत साहित्यिक भाषामें कोई चिन्तन अथवा दर्शन-प्रधान ग्रन्थ नहीं लिखे जा सके। यहाँ गद्य अथवा कविताकी भाषाका अन्तर प्रधान नहीं है, संस्कृत भी मुख्यतः कविताकी भाषा थी पर उसमें उच्चकोटिका चिन्तनशील साहित्य मिलता है। इसके बाद भी भारतेन्दुके समयमें खड़ीबोलीके साहित्यिक रूपका परिमार्जन प्रारम्भ हुआ। परन्तु काफी वर्षों तक प्रायः रामचन्द्र शुक्लके युग तक भाषाकी प्रकृति ऐसी नहीं थी कि वह सूक्ष्म संवेदनोंको व्यक्त कर सके। फलतः खड़ीबोली हिन्दीका प्रायः समस्त विचारात्मक साहित्य शुक्लजीके माध्यमसे और उनके बाद लिखा गया। भाषाके इस विकासके माध्यमसे ही संवेदनाके विकासको भी देखा जा सकता है।

भाषाका आन्तरिक संघटन संवेदनाके स्वरूपको निर्धारित करता है, इसके कई उदाहरण और देखे जा सकते हैं। मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्यमें अश्लीलताकी समस्या बहुत कुछ भाषाके स्तरपर है। सेक्स-जीवनसे सम्बद्ध हिन्दीकी प्रायः समूची शब्दावली अपनी प्रकृतिमें बहुत भौंडी है। अँगरेजीमें 'मेन्सेस' के स्थानपर 'ऐक्सपीरियन्स' या 'इन द फैमिली वे' प्रयोग अधिक सुरुचिपूर्ण माने जाते हैं। हिन्दीमें इस प्रकारकी परिष्कृत शब्दावली भी अभी विकसित नहीं हुई है। यह निश्चित है कि जब भाषाके स्तरपर सेक्स-जीवनसे सम्बद्ध शब्दोंके प्रयोगकी जड़ता समाप्त हो जायेगी तभी हमारे सामाजिक जीवनमें भी अश्लीलताको लेकर नैतिक भावना बदल सकेगी। अभीतक स्थिति इसके विपरीत मानी जाती है, अर्थात् क्योंकि हमारी संवेदनामें कोई स्थिति अश्लील है, अतः भाषामें उसकी अभिव्यक्ति भी अश्लील होगी। पर वस्तुतः भाषाकी असमर्थता ही

अनेक विभिन्नताओंको समय-समयपर प्रश्रय देती रहती हैं। इस प्रकार भाषा और भाषाके बीचमें बोली सेतुका कार्य करती है।

दूसरी ओर लोक-साहित्यपर विचार करें। लोक-साहित्य अपनी प्रकृतिसे एक सामूहिक अभिव्यक्ति है। यह न तो एक व्यक्तिकी रचना है, और न दूसरी ओर कोई व्यापक और बड़ा समाज उसकी सृष्टि कर सकता है। व्यक्ति और समाजके बीच छोटे-छोटे समूह, जातियाँ और वर्ग लोक-साहित्यकी रचना और पालनमें प्रवृत्त होते हैं। समूहमें समाजकी अपेक्षा बाह्य बन्धन कम होते हैं पर आन्तरिक संवेदना कहीं अधिक गहरी होती है। समाजका संगठन समूहकी तुलनामें बहुत जटिल होगा और संवेदनात्मक स्तरपर उसकी एकता अपेक्षया कम होगी। इस दृष्टिसे व्यक्ति और समाजके दो सीमान्तोंके बीचमें अवस्थित समूह ही लोक-साहित्यके सृजन और संवर्धनको आवश्यक भाव-भूमि प्रदान करता है। बोली और लोक-साहित्यका मिलन-स्थल भी यही समूह (कॅम्युनिटी) है, जो व्यक्तिकी अपनी आरम्भिक वैयक्तिकता और समाजकी जटिलताके बीच-की विकास-स्थिति है। मूलतः अपनी मौलिक प्रकृतियें बोली और लोक-साहित्य इस अपेक्षया उन्मुक्त वातावरणमें एक-दूसरेके उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

यह एक प्रधान कारण है जिससे कि आधुनिक कालमें बोलियों और लोक-साहित्य दोनोंकी स्थिति ह्रासशील है। हमारा वर्तमान सामाजिक संगठन मध्यकालीन समूहों वर्गों और जातियोंसे आगे बढ़कर औद्योगिक युगके अनुकूल बड़े और व्यापक समाजोंकी स्थितिमें आ गया है, ऐसा समाज जिसका संगठन अत्यन्त जटिल है और जिसके अन्तर्गत व्यक्तियोंके परस्पर संवेदनात्मक सूत्र बहुत क्षीण होते हैं। बड़ी भाषाएँ एकरूपताके प्रयासमें (आवागमन और सम्पर्कके अधिक त्वरित माध्यमोंके द्वारा) छोटी बोलियोंको समाप्त कर रही हैं। इसी प्रकारसे आधुनिक व्यापक समाजमें शिष्ट साहित्यका सृजन होता है लोक-साहित्यका नहीं क्योंकि लोक-

साहित्यके लिए आवश्यक भावात्मक संवेदना जिन समूहोंमें रहती है उनकी पहले-जैसी ऐकान्तिक स्थिति आज सम्भव नहीं। आज छोटे-छोटे समूह नष्ट होकर व्यापक समाजकी सत्ता स्वीकार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त मुद्रणके बहुमुखी प्रसारने भी बोली और लोक-साहित्यकी मौलिक प्रकृतिको आघात पहुँचाया है।

अपनी पुस्तक 'मैनकाइण्ड नेशन ऐण्ड इण्डिविजुअल'में जैस्पर्सनने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। उसके अनुसार 'लोग जितने अधिक पिछड़े हुए होंगे उतनी ही अधिक समता एक बस्तीके व्यक्तियोंमें परस्पर होगी और उतना ही अधिक अन्तर एक बस्तीसे दूसरी बस्तीके बीच होगा। इसके विपरीत सभ्यताका स्तर जितना ऊँचा होगा व्यक्तियोंमें परस्पर अन्तर उतने ही अधिक होंगे पर विभिन्न समाजोंके बीच समानताके चिह्न अधिक होंगे। सभ्यता वैयक्तिक अन्तरोंको बढ़ाती है, जब कि असभ्य लोग अपने वातावरणपर अधिक निर्भर होते हैं और परम्परागत नियम-पद्धतियोंसे बँधे रहते हैं।' (पृष्ठ ८१) जैस्पर्सनके उपर्युक्त उद्धरणको ध्यानमें रखकर कहा जा सकता है कि आधुनिक कालमें बोली और लोक-साहित्यका अध्ययन और किसी हद तक संरक्षण तो होता है, पर उनका विकास नहीं हो पाता। क्योंकि बोली और लोक-साहित्य दोनों ही व्यक्तिगत या सामाजिक वैशिष्ट्यकी अपेक्षा समूहगत (वर्गगत) वैशिष्ट्यपर आधारित होते हैं, जब कि वर्तमान सामाजिक संगठनमें व्यक्तिगत वैशिष्ट्यपर तो बल है किन्तु आधुनिक औद्योगिक सभ्यताके अन्तर्गत विभिन्न वर्गोंकी एकान्तिकता (एक्सक्लूसिवनेस) पहले-जैसी सुरक्षित नहीं और क्रमशः नष्ट हो रही है। व्यक्तिके व्यक्तित्वपर बल शिष्ट साहित्यको विकसित करता है, सामूहिक या जातिगत एकता लोक-साहित्यको जन्म देती है। आज विभिन्न वर्गों समूहों और जातियोंका संगठन ढीला पड़ रहा है और समाजकी व्यापक एकरूपता फैल रही है (यद्यपि समाजके अन्तर्गत व्यक्तित्वोंका महत्त्व बढ़ गया है) अस्तु, ग्रामों और नगरोंकी

सभ्यताके कारण। इसीलिए आज लोक-साहित्यका सृजन रुक गया है। आधुनिक समाजका जटिल संगठन शिष्ट साहित्यके लिए उपयुक्त है, लोक-साहित्यके लिए नहीं। प्रायः सभी इतिहासोंके मध्यकाल लोक-साहित्यके स्वर्ण युग कहे जा सकते हैं जहाँ आरम्भिक व्यक्तिकी वैयक्तिकता नहीं है और न आधुनिक समाजकी जटिलता है वरन् जब कि संगठन प्रमुखतः वर्गों और समूहोंमें है जहाँ व्यक्तिगत विभेद कम है, पूरे वर्गकी संवेदनात्मक एकता प्रधान है, जो लोक-साहित्यके सृजनकी विशिष्ट आधारभूमि है, क्योंकि लोक-साहित्य मूलतः किसी जन या जातिकी सामूहिक अभिव्यक्ति है।

बोली और लोक-साहित्यके अन्तरसम्बन्धका यह एक पक्ष हुआ सामाजिक गठनमें विकासकी दृष्टिसे। दूसरा पक्ष भाषाकी प्रयोग-विधिसे सम्बद्ध है, और कलात्मक संरचनाके विचारसे अधिक महत्व है। सामान्य ढंगसे मानव जीवनमें भाषा-प्रयोगके दो स्तर हो सकते हैं — साधारण दैनन्दिन व्यवहारमें और साहित्यके विशिष्ट क्षेत्रमें। इन दोनों स्तरोंके बीचका अन्तर भाषाकी सृजनात्मक (क्रिएटिव) शक्ति है। साधारण व्यवहारमें भाषाके सर्वस्वीकृत और समूचे रूपको ग्रहण किया जाता है, जब कि साहित्यमें रूपकी किसी नयी वैकल्पिक और विशिष्ट क्षमताकी रचना होती है। साधारण बोल-चालमें 'इनसान' का अर्थ होता है मनुष्य। पर जब कवि कहता है — 'आदमीको भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना' तो यह प्रयोग इनसान शब्दकी एक विशिष्ट क्षमताको सम्भव बनाता है। कवि-विशेषकी यह भाषासम्बन्धी सर्जनात्मक शक्ति ही उसके काव्यकी सफलताको सिद्ध करती है। अर्थात् सृजनात्मक शक्तिके अनुपातसे ही कविता साधारण या श्रेष्ठ स्तरकी होती है।

लोक-साहित्यमें भाषाकी यह सृजनात्मक शक्ति बहुत कम मात्रामें उपस्थित होती है। और यह भी संयोगसे अधिक ही है कि शिष्ट भाषाकी तुलनामें बोलियोंमें सृजनात्मक शक्ति कम होती है क्योंकि इस सृजनात्मक शक्तिका विकास वैयक्तिक प्रतिभाओंसे होता है न कि किसी समूहके द्वारा

जो बोली और लोक-साहित्य दोनोंका वास्तविक क्षेत्र है। वस्तुतः शिष्ट और लोक-साहित्यका विभाजक अन्तर यह भाषा-प्रयोग-विधि ही है। शिष्ट साहित्यमें व्यक्तिगत रचनाकारों-द्वारा भाषाकी सर्जनात्मक शक्तिका अधिकतम प्रयोग किया जाता है, जब कि लोक-साहित्य मुख्यतः साधारण भाषाको ही हल्की-सी सर्जनात्मक शक्तिके स्पर्शके साथ प्रयुक्त करता है। लोक-साहित्य (गीतों और कथाओं दोनों) का वास्तविक रस उसके सामूहिक गायन और पाठनमें होता है। बोलीकी उन्मुक्त प्रकृतिको उसके सामान्य दैनन्दिन रूपमें हल्की-सी सर्जनात्मक शक्तिके स्पर्शसे लोक-गायक सरस बना देता है।

इस प्रकार भाषा-प्रयोग-विधिके अर्थमें भी बोली और लोक-साहित्य एक-दूसरेके लिए उपयुक्ततम सिद्ध होते हैं। बोलीमें सर्जनात्मक क्षमता कम होती है, लोक-साहित्यमें भाषाका सर्जनात्मक प्रयोग ही कम अपेक्षित है। रत्नाकरकी ब्रजभाषा और लोकगीतोंकी ब्रजभाषामें इस सर्जनात्मक शक्तिका ही अन्तर है। इसीलिए एक शिष्ट साहित्य है और दूसरा लोक-साहित्य। और यही कारण है जिससे लोक-साहित्यका सृजन बोलीमें ही होता है, शिष्ट और परिनिष्ठित भाषामें नहीं। भाषाकी सर्जनात्मक शक्तिकी कमीको बराबर संगीतके उपकरणों-द्वारा पूरा करनेका यत्न होता रहा है। इस दृष्टिसे जो काव्य जितना अधिक पाठन या गायनकी अपेक्षा रखता है उसका स्वयं अपना रचनात्मक गठन उतना ही कमजोर होता है। 'रामचरितमानस' को गाया भी जाता है पर मात्र पढ़नेमें उसका आस्वादन किंचित् भी कम नहीं होता। आधुनिक कविता क्रमशः अपनेको संगीतकी बैसाखियोंसे मुक्त कर रही है। नयी कविता सम्भवतः कविताका विशुद्धतम रूप है और भाषाकी सर्जनात्मक शक्तिकी सबसे अधिक अपेक्षा रखती है। लोकगीत दूसरा सीमान्त है जो (सामूहिक रूपसे) गाये जाने-पर ही सम्प्रेषणको सम्भव बनाता है और भाषाकी सर्जनात्मक शक्तिका सबसे कम प्रयोग करता है।

■

खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण

आधुनिक बोल-चालकी ब्रजभाषापर परिनिष्ठित हिन्दीका प्रभाव दिन-दिन बढ़ता जाता है। व्याकरण-रूप, शब्द-समूह, यहाँतक कि वाक्य-विन्यासमें भी इस प्रभावकी छाया देखी जा सकती है। पर इस प्रभाव-का एक दूसरा रूप ही यहाँ द्रष्टव्य है, जहाँ शिक्षित वर्गकी बोलीमें स्वत परिनिष्ठित हिन्दी अथवा खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण हो जाता है। खड़ी-बोलीके ब्रजभाषाकरणसे तात्पर्य यह है कि परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द-रूपों और प्रयोगोंका ब्रजभाषाकी ध्वन्यात्मक और व्याकरणगत प्रकृतिके अनुकूल प्रयोग। मथुरा जिलेकी ब्रजभाषाके जो नमूने लेखकने एकत्र किये हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि इस क्षेत्रके काफी शिक्षित और संस्कृत लोग अब भी आपसकी बोल-चालमें ब्रजभाषाका प्रयोग करना पसन्द करते हैं पर उनके भाव आधुनिक चिन्तनसे सम्बद्ध हैं जिन्हें ठेठ ब्रजभाषामें समुचित रूपसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका फल यह होता है कि वक्ताके विचार तो परिनिष्ठित हिन्दीकी शैलीसे निर्धारित होते हैं पर उन्हें ब्रजभाषामें ढाला जाता है। कहीं-कहीं तो लगभग परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द-प्रयोगों और मुहावरोंका ब्रजभाषामें अनुवाद-सा कर दिया जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहाँ अंग्रेजीके वाक्य-विन्यास और मुहावरोंको अपनानेका बिना सचेत हुए, प्रयास किया गया है।

भाषा काफी हद तक वक्ताकी संवेदनाको प्रभावित और अनुशासित करती है। इस दृष्टिसे ठेठ ब्रजभाषा बोलनेवालेकी संवेदना आधुनिक सन्दर्भमें सीमित और संकीर्ण ही कही जायेगी। शिक्षित लोग जब आपसमें ब्रजभाषाका प्रयोग करते हैं तो उनकी संवेदना और भाषा-गत रूपम

तारतम्य नहीं दिखाई देता। उनकी संवेदना अपेक्षाकृत विकसित है, जिसे ब्रजभाषा ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर पाती। फलतः वे अपने विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए कभी-कभी परिनिष्ठित हिन्दीका ब्रजभाषाकरण करते हैं।

ब्रजभाषाकरणकी यह प्रवृत्ति मुख्यतः दो रूपोंमें देखी जा सकती है। एक तो परिनिष्ठित हिन्दीके शब्दोंको लेकर उनका व्याकरणसम्बन्धी परिवर्तन ब्रजभाषाके नियमानुसार करना और दूसरे उन शब्दोंका उच्चारण ब्रजभाषाकी ध्वनि-प्रकृतिके अनुकूल करना। स्पष्ट ही यह ब्रजभाषाकरण शब्द-प्रयोगोंके क्षेत्रमें ही सीमित है। पर कहीं-कहीं मुहावरों और शैलीमें भी परिलक्षित होता है। नीचे इस ब्रजभाषाकरणके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं

१ सत्याग्रहनकौं जोर है—इस वाक्यमें परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द सत्याग्रहको लेकर उसका बहुवचन ब्रजभाषाके नियमसे बनाया गया है।

२ प्रस्तावनि पै प्रस्ताव धरे हैं—इस वाक्यमें भी प्रस्ताव शब्दका बहुवचन ब्रजभाषाके अनुसार है।

३ हमरी अनिकी भारत में प्रभावित भव—इस वाक्यमें संयुक्त क्रिया मूलतः परिनिष्ठित हिन्दीकी है। पर प्रभावित हुएके स्थानपर प्रभावित भव करके प्रयोगका ब्रजभाषाकरण किया गया है।

४ ब्यौसाय कछु है नाँयँ—खड़ी बोलीकी संज्ञा व्यवसायम आदि स्वर व को ब्रजभाषाकी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके अनुकूल ब्यौ (व्य ब्यौ) कर लिया गया है। इसमें पहले भी संस्कृत-तत्सम व्यापारसे ब्यौपार (बिहारीमें) या ब्यौपारी-जैसे शब्द मिलते हैं। पर ब्यौसाय अपेक्षाकृत आधुनिक जान पड़ता है।

५ धान्यात्मनिकौं इतिहास बतावत है—इस वाक्यके प्रथम शब्दमें बहुवचनके लिए ब्रजभाषाका नियम तो अपनाया ही गया है पर उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि परिनिष्ठित हिन्दीके एक विशिष्ट शैलीगत

खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण

आधुनिक बोल-चालकी ब्रजभाषापर परिनिष्ठित हिन्दीका प्रभाव दिन-दिन बढ़ता जाता है। व्याकरण-रूप शब्द-समूह यहाँतक कि वाक्य-विन्यासमें भी इस प्रभावकी छाया देखी जा सकती है। पर इस प्रभाव-का एक दूसरा रूप भी यहाँ द्रष्टव्य है जहाँ शिक्षित वर्गकी बोलीमें स्वत परिनिष्ठित हिन्दी अथवा खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण हो जाता है। खड़ी-बोलीके ब्रजभाषाकरणसे तात्पर्य यह है कि परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द-रूपों और प्रयोगोंका ब्रजभाषाकी ध्वन्यात्मक और व्याकरणगत प्रकृतिके अनुकूल प्रयोग। आगरा जिलेकी ब्रजभाषाके जो नमूने लेखकने एकत्र किये हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि इस क्षेत्रके काफी शिक्षित और संस्कृत लोग अब भी आपसकी बोल-चालमें ब्रजभाषाका प्रयोग करना पसन्द करते हैं, पर उनके भाव आधुनिक चिन्तनसे सम्बद्ध हैं जिन्हें ठेठ ब्रजभाषामें समुचित रूपसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका फल यह होता है कि वक्ताके विचार तो परिनिष्ठित हिन्दीकी शैलीसे निर्धारित होते हैं पर रूप ब्रजभाषामें ढाला जाता है। कहीं-कहीं तो अक्षरशः परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द-प्रयोगों और मुहावरोंका ब्रजभाषामें अनुवाद-सा कर दिया जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहाँ अँगरेजीके वाक्य-विन्यास और शब्दोंको अपनानेका बिना समझे हुए प्रयास किया गया है।

भाषा काफी हद तक वक्ताकी संवेदनाको प्रभावित और अनुशासित करती है। इस दृष्टिसे ठेठ ब्रजभाषा बोलनेवालेकी संवेदना आधुनिक सन्दर्भमें सीमित और संकीर्ण ही कही जायेगी। शिक्षित लोग जब आपसमें ब्रजभाषाका प्रयोग करते हैं तो उनकी संवेदना और भाषा-गत रूपमें

तारतम्य नहीं दिखाई देता। उनकी संवेदना अपेक्षाकृत विकसित है जिसे ब्रजभाषा ठीक-ठीक वहन नहीं कर पाती। फलतः वे अपने विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए कभी-कभी परिनिष्ठित हिन्दीका ब्रजभाषाकरण करते हैं।

ब्रजभाषाकरणकी यह प्रवृत्ति मुख्यतः दो रूपोंमें देखी जा सकती है। एक तो परिनिष्ठित हिन्दीके शब्दोंको लेकर उनका व्याकरणसम्बन्धी परिवर्तन ब्रजभाषाके नियमानुसार करना और दूसरे उन शब्दोंका उच्चारण ब्रजभाषाकी ध्वनि-प्रकृतिके अनुकूल करना। स्पष्ट ही यह ब्रजभाषाकरण शब्द-प्रयोगोंके क्षेत्रमें ही सीमित है। पर कहीं-कहीं मुहावरों और शैलीमें भी परिलक्षित होता है। नीचे इस ब्रजभाषाकरणके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं

१ सत्याग्रहन्की ओर हैं—इस वाक्यमें परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द सत्याग्रहको लेकर उसका बहुवचन ब्रजभाषाके नियमसे बनाया गया है।

२ प्रस्तावनि पै प्रस्ताव करे हैं—इस वाक्यमें भी प्रस्ताव शब्दका बहुवचन ब्रजभाषाके अनुसार है।

३. हमरे हृदयकी बातन् सें प्रभावित मन—इस वाक्यमें संयुक्त क्रिया मूलतः परिनिष्ठित हिन्दीकी है। पर प्रभावित हुएके स्थानपर प्रभावित भये करके प्रयोगका ब्रजभाषाकरण किया गया है।

४ व्यौसाय बढ़ु है नौं ठै—खड़ी बोलीकी संज्ञा व्यवसायमें आदि स्वर अ को ब्रजभाषाकी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके अनुकूल औ (व्य व्यौ) कर दिया गया है। ब्रजमें पहले भी संस्कृत-तत्सम व्यापारका व्यौपार (बिहारीमें) या व्योपारी-जैसे शब्द मिलते हैं। पर व्यौसाय अपेक्षाकृत आधुनिक जान पड़ता है।

५. भारताकनिकौ इतिहास बताउत हैं—इस वाक्यके प्रथम शब्दमें बहुवचनके लिए ब्रजभाषाका नियम तो अपनाया ही गया है पर उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि परिनिष्ठित हिन्दीके एक विशिष्ट शैलीगत

खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण

आधुनिक बोल-चालकी ब्रजभाषापर परिनिष्ठित हिन्दीका प्रभाव दिन-दिन बढ़ता जाता है। व्याकरण-रूप, शब्द-समूह, यहाँतक कि वाक्य-विन्यासमें भी इस प्रभावकी छाया देखी जा सकती है। पर इस प्रभावका एक दूसरा रूप ही यहाँ प्रस्तुत है, जहाँ शिक्षित वर्गकी बोलीमें स्वतः परिनिष्ठित हिन्दी अथवा खड़ीबोलीका ब्रजभाषाकरण हो जाता है। खड़ीबोलीके ब्रजभाषाकरणसे तात्पर्य यह है कि परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द-रूपों और प्रयोगोंका ब्रजभाषाकी ध्वन्यात्मक और व्याकरणगत प्रकृतिके अनुकूल प्रयोग। आगरा जिलेकी ब्रजभाषाके जो नमूने लेखकने एकत्र किये हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि इस क्षेत्रके कतिपय शिक्षित और संस्कृत लोग अब भी आपसकी बोल-चालमें ब्रजभाषाका प्रयोग करना पसन्द करते हैं, पर उनके भाव आधुनिक चिन्तनसे सम्बद्ध हैं जिन्हें ठेठ ब्रजभाषामें समुचित रूपसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका फल यह होता है कि वक्ताके विचार तो परिनिष्ठित हिन्दीकी शैलीसे निर्धारित होते हैं पर उन्हें ब्रजभाषामें ढाला जाता है। कहीं-कहीं तो लगभग परिनिष्ठित हिन्दीके शब्द-प्रयोगों और मुहावरोंका ब्रजभाषामें अनुवाद-सा कर दिया जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहाँ अँगरेजीके वाक्य-विन्यास और शब्दोंको अपनानेका बिना सजग हुए, प्रयास किया गया है।

भाषा काफी हद तक वक्ताकी संवेदनाको प्रभावित और अनुशासित करती है। इस दृष्टिसे ठेठ ब्रजभाषा बोलनेवालेकी संवेदना आधुनिक सन्दर्भमें सीमित और संकीर्ण ही रह जायेगी। शिक्षित लोग जब आपसमें ब्रजभाषाका प्रयोग करते हैं तो उनकी संवेदना और भाषा-गत रूपम

अँगरेज़ी तथा देशकी भाषा-नीति

देशकी स्वतन्त्रताके बादसे जन-जीवनकी मौलिक मान्यताओंमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। मसलन् राष्ट्रीयताकी भावना कुछ संकुचित स्थानिक तथा दकियानूसी मानी जाने लगी है। उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अन्तरराष्ट्रीय संवेदनाने हमारे अपने जीवनके सन्दर्भोंको काफ़ी दूषित भी किया है। अन्तरराष्ट्रीयके समक्ष स्वदेशीकी भावना मन्द ही नहीं पड़ी वरन् अप्रत्यक्ष रूपसे प्रतिक्रियावादी भी समझी जाती है। इस प्रकारके मतके पुरस्कर्ता स्पष्ट ही राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीयको एक-दूसरेका विरोधी मानकर चलते हैं। देशके व्यापक परिप्रेक्ष्यके अनुचिन्तित न होनेके कारण ऐसा एकांगी चिन्तन पनप रहा है। मैं अँगरेज़ी हिन्दी तथा देशकी व्यापक भाषा-समस्याको इसी सन्दर्भमें देखना चाहता हूँ। राष्ट्रीयताकी भावनाका विघटन देशमें अँगरेज़ीके पुनःस्थापनकी प्रवृत्तिसे अनिवार्यरूपसे सम्बद्ध है। राष्ट्रीयताका प्रयोग मानो स्वतन्त्रता-प्राप्तिके प्रयत्नोंमें ही आवश्यक था।

स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद राष्ट्रीय जीवनके आन्तरिक अनुशासनका ढीला पड़ जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु यह स्थिति किसी भी प्रकार वाञ्छनीय नहीं मानी जा सकती। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी-जैसे व्यक्तियोंके समर्थकका विरोधी बन जाना इस दृष्टिसे देखनेपर आसानीसे समझा जा सकता है। अँगरेज़ीका समर्थन मूलतः राष्ट्रीयताका निषेध है। अँगरेज़ीकी सामर्थ्यमें [illegible] नहीं की जा सकती। साथ ही यह भी मानना होगा कि अँगरेज़ी-जैसी सशक्त तथा बहुस्वीकृत भाषा इस समय हमारे देशमें क्या संसारमें नहीं है। पर क्या यही पर्याप्त कारण है

जिसके आधारपर हम यह निश्चय कर लें कि हम अँगरेजीको ही अपने देशकी राजभाषा रखेंगे ? यह तो कुछ ऐसा ही हुआ जैसे हम कहें कि क्योंकि अँगरेज हमसे कहीं बेहतर शासक रहे हैं अतः भारतका राज्य-संचालन करनेके लिए हम फिरसे उन्हें बुला लें। और सच तो यह है कि किसी अन्य जातिके शासन और किसी अन्य भाषाके शासनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

भारतमें अँगरेजीकी स्थितिको एक दूसरे दृष्टिकोणसे भी देखा जा सकता है। यहाँ अँगरेजी सदैव धन-विभेदका एक बड़ा भारी माध्यम रही है। आजादीके बादसे तो यह स्थिति और भी गम्भीर हो गयी। साधन विहीन जनकी भाषा न तो अँगरेजी पहले ही थी और न अब है। बल्कि अँगरेजीकी समुचित शिक्षा अब तो कुछ गिने-चुने कान्वेन्टों स्कूलों तथा कालेजोंमें ही सम्भव है यहाँ सामान्य मध्यवर्गकी पहुँच आसान नहीं। अँगरेजीके कारण देशकी शिक्षाके दो स्तर हो गये हैं। शिक्षाका एक रूप उन साधन-सम्पन्न परिवारोंके लिए है जिनके बच्चे आगे चलकर भी शासक बनेंगे तथा दूसरा रूप उस किसानके बालकके लिए है जो अपने स्तरको सदैव न पानेके लिए विवश है। समाजवादी ही नहीं बल्कि जनतन्त्री व्यवस्थाम आस्था रखनेवाली किसी भी सरकारके लिए यह स्थिति स्पृहणीय और सहनीय नहीं हो सकती। उच्चतम ज्ञान-विज्ञान किसी एक विदेश भाषाके माध्यमसे किन्हीं व्यक्तियोंमें सीमित हो सकता है, परन्तु भाषाके आधारपर किसी वर्गका उत्थान या विकास एक नये प्रकारके शोषणको जन्म देता है। भारतमें अँगरेजीकी स्थिति सम्प्रति ऐसी ही हो गयी है। और इस बातकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती कि देशके प्रत्येक नागरिक-को उच्च शिक्षाके माध्यम रूपमें अँगरेजी पढ़ायी जा सकेगी। इस दृष्टिसे भारतकी भावी व्यवस्थाम अँगरेजीको देशकी राजभाषाके रूपमें नहीं स्वीकार किया जा सकता। और यह भावी व्यवस्था निश्चय ही वर्तमान पद्धतियोंपर निर्भर होगी।

अँगरेजीको भारतवासियोंने अच्छी तरह सीखा यह सही है पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अँगरेजी हमारे देशकी मौलिक प्रतिभा तथा चिन्तनकी वाहक कभी नहीं बन सकी। अँगरेजीके कुछ अच्छे वक्ता तथा लेख लिखने-वाले हमारे यहाँ अवश्य हुए पर कला, साहित्य, दर्शन अथवा चिन्तनके क्षेत्रमें कोई भी गौरवपूर्ण कार्यकी प्रतिभा अँगरेजीके माध्यमसे उत्पन्न नहीं हो सकी। रही विज्ञानकी बात तो उसमें भाषाका नहीं वरन् पारिभाषिक शब्दावलीका महत्त्व होता है। 'न्यूक्लियर फिजिक्स' या कोई विज्ञान अच्छी अँगरेजी जाननेवाले व्यक्तिके लिए भी उतना ही कठिन है जितना किसी केवल हिन्दी जाननेवाले व्यक्तिके लिए हो सकता है। इस विषयका अच्छा विवेचन प्रसिद्ध अमेरिकन भाषा-शास्त्री ग्लीसनने किया है। उसने विज्ञानकी एक पुस्तकसे कुछ अंश उद्धृत किया है जिसे आगे हम प्रस्तुत करते हैं : "Stamens dimorphic anthers oblong to subulate truncate to attenuate or rostrate at the summit connective of the larger anthers greatly prolonged and bearing two long basal anterior appendages that of the smaller anthers much shorter simply or merely bituberculate" (*An Introduction to Descriptive Linguistics* Page 334) स्पष्ट ही इस अंशको अँगरेजीका अच्छेसे अच्छा ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति भी नहीं समझ सकता। इस दृष्टिसे सम्पूर्ण उच्च विज्ञानकी अपनी अलग भाषा है जिसका सामान्य भाषासे कोई सम्बन्ध नहीं।

चालीस करोड़ व्यक्तियोंके देशमें अँगरेजी न जनभाषा हो सकती है और न राजभाषा। विभिन्न प्रान्तों तथा विभिन्न स्तरोंपर उसका स्थान तो हिन्दी तथा देशकी अन्य भाषाओंको लेना है। प्रसिद्ध अँगरेजी कवि स्टीफन स्पेन्डर जब भारत आये थे तो एक प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही थी। उनका स्पष्ट मत था कि अँगरेजीको भारतमें अब राज-

योगिताकी दृष्टिसे ही रहना चाहिए। जन-विभेदकी भाषाके रूपमें उसका प्रयोग एकदम समाप्त हो जाना चाहिए। लेखकका यह मत सारी समस्या-का बड़े सही ढंगसे विश्लेषण करता है। प्रजातन्त्रकी आदर्श स्थिति वही है जिसमें बहुमतका शासन होनेपर भी अल्पसे अल्प मतवाले व्यक्तियोंकी इच्छाओं तथा आकांक्षाओंका सम्मान हो सके। इस दृष्टिसे राजभाषाके रूपमें अंग्रेजी भाषाकी हमारे देशमें स्थिति समस्त प्रजातान्त्रिक मान्यताओंके प्रतिकूल होगी।

संभालना पड़ा—मुख्यतः दो कारणोंसे । एक तो मध्यदेशमें विकसित होनेके कारण संस्कृत-जैसी उसकी केन्द्रीय स्थिति रही और दूसरे संस्कृतकी विरासत भाषा और साहित्य दोनों ही क्षेत्रोंमें उसे सबसे अधिक मात्रामें प्राप्त हुई ।

अपनेको इस ऐतिहासिक स्थितिमें पाकर हिन्दीने समसामयिक राष्ट्रीय दायित्वका यथाशक्ति निर्वाह किया है । परन्तु यह एक विडम्बना ही कही जायेगी कि स्वराज्य पा लेनेके बादसे हिन्दी और राष्ट्रीयता (हिन्दीको अपने मौलिक अर्थमें हिन्दका विशेषण मानें तो इस युग्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध और भी स्पष्ट दिखने लगता है) हमारे नेताओंको और अब किसी हद तक हमारी जनताको भी अनाकर्षक-सी दिखने लगी हैं । ऐसा लगता है कि लोग यह अनुभव करते हैं जैसे राष्ट्रीय भाव-बोध और उसके साथ-साथ हिन्दी केवल स्वराज्य-प्राप्तिकी लक्ष्य-पूर्ति तक ही हमारा साथ दे सकती थीं । उसके आगेके विकासमें वे हमारे लिए बाधक हैं । यही कारण है जिससे आजके युगमें हिन्दी और राष्ट्रीयता दोनोंके साथ ही एक पिछड़ापनका भाव जोड़ दिया गया है । आई सी एस बेटेके बापकी तरह *दोनोंको बैठकके पिछवाड़ेकी कोठरीमें रखा जाता है ।*

समसामयिक राजनीतिक चिन्तनके क्षेत्रमें राष्ट्रीयताका भाव ही जैसे प्रतिक्रियावादी मान लिया गया है । अन्तरराष्ट्रीयताका नारा इतनी जोर से बुलन्द है कि चाहते हुए भी हम राष्ट्रीयताकी बात नहीं कर पाते । आचार्य रामचन्द्र शुक्लके अनुसार महुआको जानकर भी उसे पहचाननेसे इनकार कर दिया जाता है नहीं तो लोग हमें गँवार समझ लेंगे । हिन्दीके प्रति सजग उपेक्षाका यह अभियान मात्र अपने-आपको झटकेके साथ राष्ट्रीयतासे अलग कर देनेका यत्न है ।

राष्ट्रीय चेतनाको अपेक्षित ऊँचाई तक विकसित किये बिना ही अन्तरराष्ट्रीय बननेका हमारा यह यत्न कितना दयनीय लगता है । कूद कूद उछलकर शिक्षित तथा संस्कृत हो जानेके दावे-जैसा । यह सही है कि

पर उस देशकी संस्कृतिका प्रभाव हम इतने सीमित प्राप्त नहीं कर सकते। अजन्ताकी 'अप्सरा' हम अमरीका लाकर प्रतिष्ठित कर सकते हैं और चाहे प्राविधिक प्रशिक्षण और सहयोगसे उसकी परिकल्पना भी कर सकते हैं, पर उस देशकी चिन्तन और सृजन-वृत्ति न तो हमें उस रूपमें स्वीकार्य ही होगी और न उसकी सीमाओंमें हम उसे अपने देशमें विकसित कर सकते हैं।

इसी स्थितिमें अपने-आपको अन्तरराष्ट्रीय बनानेका यह आवेग बहुत कम समीचीन लगने लगता है। क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय तो वही हो सकता है जो राष्ट्रीय भाव-बोधमें [illegible] गुजर चुका हो। इतिहासकी प्रक्रियाके किसी महत्त्वपूर्ण दौरको संक्षिप्त किया जा सकता है, पर उसे सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय संवेदनाको गहरे प्रतिष्ठित किये बिना ही अन्तरराष्ट्रीय होनेके चलते आज देशमें जातिवाद और भाषावाद जैसी प्रतिगामी शक्तियोंको मजबूत बनाया है। सम्प्रति हमारे जन-जीवनमें एक ओर जातिवाद और भाषावाद है और दूसरी ओर भाषाहीन अन्तरराष्ट्रीयता है। इन बहुत-कुछ विरोधी परिस्थितियोंके बीच हिन्दी और राष्ट्रीयता जो ऐतिहासिक भूमिमें इस समय स्थापित होनी चाहिए थी अपने-आपको उपेक्षित पाती है। ऐतिहासिक पद्धतिको ठीक-ठीक समझे बिना उसकी परिकल्पनामें अन्तरराष्ट्रीयताके स्थानपर हमारे देशमें जातीय और भाषाई वृत्तियाँ विकसित कर दी हैं। यदि एक बार राष्ट्रीय भाव-बोधको हमने समग्रतः आत्मसात् किया होता तो शायद यह विभ्रमकी स्थिति न होती। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि किसी देश या भूखण्डकी सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय एकता एक-दूसरेके ठीक पर्याय नहीं हैं। अनेक राष्ट्रोंवाला यूरोप सांस्कृतिक स्तरपर बहुत-कुछ अपने-आपको एकीकृत अनुभव करता रहा है। पर उसके सभी देशोंके राष्ट्रीय बोध अलग-अलग और कभी-कभी एक-दूसरेके विरोधी भी रहे हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति इस्लामी संस्कृतिकी है, जिसके भागीदार अनेक देश हैं, पर